वैदिक सिद्धान्त दर्पण

यशःपाल सिद्धान्तालंकार

* ओ३म् *

वैदिक-सिद्धांत-दर्पण

इसमें वैदिक-धर्म के मौलिक सिद्धान्तों का
युक्ति तथा शास्त्र से प्रतिपादन
किया गया है।

लेखक

पं० यशःपाल सिद्धान्तालङ्कार
(वैदिक मिशनरी)
उपदेशक आर्य-प्रतिनिधि सभा, पंजाब,
सिन्ध व बिलोचिस्तान

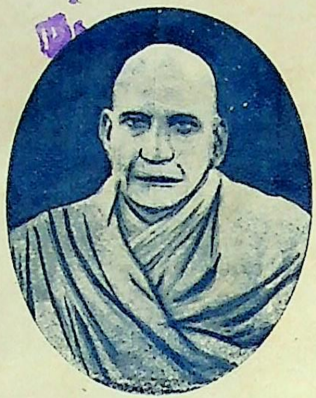
प्रकाशक
भक्त धनपति
प्रोप्राइटर, आर्य-मिशन, मुलतान शहर

प्रथम संस्करण १००० | संवत् १९९० | मूल्य एक रुपया

प्रकाशक
श्री भक्त धनपति,
प्रोप्राइटर, आर्य-मिशन,
मुलतान शहर

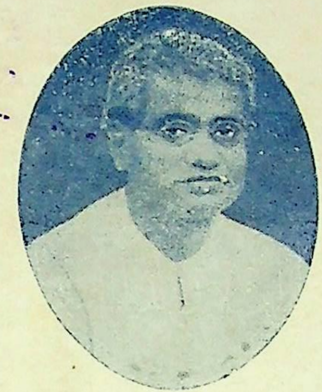
मुद्रक
श्री भीमसेन विद्यालङ्कार
नवयुग प्रिण्टिङ्ग प्रैस,
लाहौर।

गुरुदेवों के चरणों में



स्वामी श्रद्धानन्दजी

आचार्य रामदेवजी



समर्पण

आर्य-संस्कृति के पुनरुद्धार करनेवाले, आदर्श गुरुकुल-
शिक्षा-प्रणाली के पुनर्जीवित करनेवाले, लुप्त-
प्राय ब्रह्मचर्य-संस्था के पुनः प्रचालित
करनेवाले, गुरुकुल-विश्वविद्यालय
के संस्थापक, आचार्य

आदर्श संन्यासी श्रद्धानन्दजी

तथा

ऋषि दयानन्द के अनन्य भक्त, वैदिक-धर्म तथा
आर्य-संस्कृति के अनन्य प्रचारक,
आर्य-समाज के सर्वमान्य नेता

पितृवर आचार्य रामदेवजी

के

परम पुनीत चरणों

में

यह पुस्तक

सादर समर्पित

है।

प्राक्कथन ।

वैदिकधर्म के सिद्धान्तों पर चिरकाल से एक विस्तृत ग्रन्थ लिखने का विचार था। परन्तु प्राय: रेलस्थ जीवन व्यतीत करने के कारण मुझे अपने विचारों को क्रियात्मक रूप देने का समय न मिला। इसी बीच में स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्दजी महाराज की प्रेरणा से मुझे आसाम तथा बरमा प्रान्त में प्रचारार्थ जाना पड़ा। जहाँ पर मुझे इतना (Spade work) प्रचार का कार्य करना पड़ा कि स्वाध्याय के लिये अवसर ही नहीं मिला इसी प्रकार पंजाब प्रान्त में भी प्रचार के कार्य पर अधिक रहने के कारण से स्वाध्याय तथा मनन का अवसर नहीं मिल सका। सन् १९२९ के अप्रैल मास में आर्यसमाज केटा का पुरोहित बन कर आर्य-प्रतिनिधि सभा पंजाब के आदेशानुसार मुझे केटा आना पड़ा। यहाँ पर प्रतिदिन दोनों समय उपदेश व कथा करने के लिए स्वाध्याय की अत्यन्त आवश्यकता होती थी। अनुकूल समय व वातावरण पाकर मेरा पुराना विचार फिर उत्तेजित हो उठा। और मैंने निश्चित-रूप से इस पुस्तक के लिखने के उद्देश्य से स्वाध्याय करना प्रारम्भ किया। यह पुस्तक मेरे पाँच वर्ष के निरन्तर स्वाध्याय तथा मनन का परिणाम है। इसमें मैंने वैदिक धर्म के प्राय: सब आधारभूत सिद्धान्तों (Fundamental principles) पर विवेचना करने का यत्न किया है। पाश्चात्य

तथा पूर्वीय विद्वानों के लेखों के आधार पर वैदिकधर्म की महत्ता तथा गौरव को स्थापित करने का यत्न किया है। इस यत्न में मैं कहाँ तक सफल हुआ हूँ, इस बात का निर्णय विज्ञ-पाठक ही इस पुस्तक को पढ़कर करेंगे। मेरे विचार में आर्यसामाजिक साहित्य में यह पहली ही पुस्तक है, जिसमें कि एक स्थान पर वैदिकधर्म के सिद्धान्तों की इतने विस्तृत रूप से व्याख्या की गई है। कई स्थानों पर दार्शनिक बातों का विवेचन करते हुए भाषा में जटिलता भी आ गई है, परन्तु साधारणतया भाषा को अधिक सुगम बनाने का प्रयत्न किया गया है।

आशा है, सहृदय पाठक हंस की तरह नीर-क्षीर-विवेक से इस पुस्तक का अध्ययन करेंगे और सत्य के ग्रहण में सर्वदा उद्यत रहेंगे। यदि मुझे आर्यसमाज कोटा में ५ वर्ष तक रहने का अवसर न मिलता, तो सम्भवतः मैं इस पुस्तक को न लिख सकता। यह पुस्तक मेरे कोटा-निवास की मधुर, मंगल तथा अमूल्य स्मृति है। इस पुस्तक के लिखने में जिन पुस्तकों की सहायता ली गयी है, उन लेखकों का लेखक अत्यन्त आभारी है। यदि यह पुस्तक वैदिकधर्म के प्रचार में कुछ भी उपयोगी सिद्ध हुई, तो मैं अपने आपको कृतकृत्य समझूँगा।

आर्यसमाज कोटा
पौष सुदि १८, १९९०

वैदिकधर्म का सेवक
यशःपाल सिद्धान्तालङ्कार

विषय-सूची

भूमिका

ऋषि दयानन्द निःसन्देह वर्तमान युग के आचार्य हैं। ऋषि दयानन्द से पूर्व भी सभी आचार्यों ने वेदों को मान्य बताया था। परन्तु वेदों के तत्वों और उपदेशों का अपने ग्रन्थों में कहीं स्पष्ट प्रतिपादन न किया था। पुराने आचार्यों में से श्री माधवाचार्य ने ऋग्वेद के थोड़े से अंशों का भाष्य किया, किन्तु अन्य किसी ने इस दिशा में कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया। वेद और श्रुति के नाम से श्री शङ्कराचार्य उपनिषदों के ही प्रमाण देते रहे। श्री सायण, महीधर तथा उव्वट्टादि ने वेदों के जो भाष्य किये, उनके विषय में इतना ही लिखना पर्याप्त है कि उन्हें पढ़ कर किसी भी विचारशील पुरुष की वेदों पर ज़रा भी श्रद्धा नहीं रह सकती। उनके अर्थों को प्रमाण मानते हुये ही अनेक पाश्चात्य लेखकों तथा ईसाई और मुसलमान प्रचारकों ने वेदों पर अनेक आक्षेप किये हैं। वैदिक तत्वों को जगत् के सन्मुख शुद्ध रूप में, रख कर इस विषयक अज्ञान को दूर करने का श्रेय अधिकतर ऋषि दयानन्द को ही है। इस विषय में सुप्रसिद्ध विद्वान् श्रीयुत अरविन्द घोष ने लिखा है कि—"I am convinced that whatever may be the final complete interpretation, Dayanand will be honoured as the first discoverer of the right clues, amidst

the chaos and obscurity of old ignorance and agelong misunderstanding, his was the eye of direct vision that pierced to the truth and fastened on that which was essential. He has found the key of the doors that, time has closed and rent asander the seals of the impoisened fountain.

अर्थात् "वेदों का तथा अन्तिम प्रामाणिक भाष्य कोई भी हो, दयानन्द का स्थान, उपयुक्त शैली के प्रथम आविष्कारक के रूप में सर्वोच्च है। उस ने अपनी दृष्टि से पुराने अज्ञान तथा भ्रम के मध्य में से सत्य का अन्वेषण किया। जिन वेदों के द्वारों को समय ने बन्द सा कर दिया था-उन की चाबियों को उसने पा लिया। यह सुप्रसिद्ध बात है कि ऋषि दयानन्द कृत ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका तथा वेद-भाष्य ने प्रो. मैक्समूलर जैसे पाश्चात्य विद्वान् को भी विशेष रूप से प्रभावित किया था। यहां तक कि उसने अपने ग्रन्थ "Six systems of philosophy" में स्वीकार किया कि वैदिक काल में इन्द्र, अग्नि, मातरिश्वा, प्रजापति आदि नामों से वस्तुतः एक ईश्वर को ही माना जाता था "The conception had been formed that there is, but one being that was really meant by all such names as Indra, Agni, Mat-rishwan and by the name Prajapati, Lord of creature." इत्यादि। ऋषि दयानन्द वेदों में सब ज्ञान का बीज मानते हैं। ऋषि दयानन्द के मत में सब सचाईयों का आदि स्रोत वेद है। पण्डित सत्यव्रत सामाश्रमी, कलकत्ता

के संस्कृत कालेज में वैदिक साहित्य के प्रोफ़ैसर थे। बंगाल एशियाटिक सोसाइटी के कई ग्रन्थों का इन्होंने सम्पादन किया है। बंगाल में वैदिक साहित्य के प्रचार का श्रेय, सर्वप्रथम इन्हीं को है। इन्होंने वैदिक साहित्य पर बहुतसी स्व-मूलक पुस्तकें भी लिखी हैं। अपने 'त्रयीचतुष्टय'-नामक संग्रह पुस्तक में इन्होंने वेदों के भाष्यकारों और विशेषतया सायण भाष्यकार के सम्बन्ध में अपनी सम्मति लिखी है। वेद-सम्बन्धी विचारों में इनकी तथा महर्षि दयानन्द की कई बातों में मौलिक समानता है। वह लिखते हैं कि "When the त्रयीसंग्रह was being compiled, the impression grew upon me that the real meaning of many Mantras did not come out in Sayan's commentary, and the desire became strong in me to publish the interpretations of yaska and other old expositors of the Veda" अर्थात् त्रयीसंग्रह पुस्तक का जब संकलन हो रहा था उस समय मुझे अनुभव हुआ कि सायण के भाष्य में बहुत से मन्त्रों के यथार्थ भाव प्रकट नहीं हो सके, इसलिये मुझ में यह प्रबल इच्छा पैद हुई कि यास्क तथा अन्य प्राचीन भाष्यकारों के भावार्थों का मैं स्वयं उद्घाटन करूँ।" वे आगे लिखते हैं कि "At a time when photography, phonography, gaslight, the telegraph, the telephone, Railway and Baloons had not been introduced into the country, how could our people understand any verses refering to these things." अर्थात्

उस समय (सायणाचार्य के) जब कि फ़ोटोग्राफ़ी, फ़ोनोग्राफ़ी, गैस लाइट, टैलिग्राफ़, टैलीफ़ोन और हवाई जहाज़ों का भारत में प्रचार न था, किस प्रकार भारत के वेदभाष्य कर्त्ता उन मन्त्रों के यथार्थ रहस्यों को समझ सकते थे, जिनमें कि इन वस्तुओं के निर्देश हों।" वे आगे चल कर लिखते हैं कि "Our opinion is that in Vedic times our country had made extra-ordinary progress. In those days the sciences of geology, Astronomy and chemistry were called आधिदैविक विद्या and those of physiology, psychology and theology अध्यात्म विद्या." Though the works embodying the scientific knowledge of those times are entirely lost, there are sufficient indications in Vedic works of those sciences having been widely known in those days. It is needless to say that the reason why these indications are not understood now, is due to the imperfect interpretation of an expositor having no knowledge of the science. The study of certain portions of the Vedas, leads even to the conclusion that certain scientific reserches had been caried in the country to such perfection, that—even America, the constant source of scientific discoveries and the advanced countries of Europe have not yet attained

it. It is this which makes it impossible for us to understand the real purport of snch passages. In fact, a full and satisfactory interpretations of the Veda requires a perfect familiarity with all the sciences on the part of the expositor, and is simply a misfortune to undertake its exposition without such familiarity." अर्थात् "हमारी सम्मति है कि वैदिक काल में भारत पर्याप्त उन्नत था। उस समय भूगर्भ-विद्या, ज्योतिष और रसायन विद्या को आधिदैविक विद्या कहा जाता था। और शरीर विद्या, मनोविज्ञान तथा ब्रह्म-विद्या को अध्यात्म विद्या। उस समय के वैज्ञानिक ग्रन्थ यद्यपि इस समय सर्वथा लुप्त हो गये हैं तो भी वेदों में उन विज्ञानों के सम्बन्ध में पर्याप्त निर्देश मिलते हैं। इन से प्रतीत होता है कि वैदिक काल में उन विज्ञानों का पर्याप्त प्रचार था। वेदों के भाष्यकारों को चूंकि स्वयं ऐसे विज्ञानों का परिज्ञान नहीं था, इसलिए वे वेदों में आये वैज्ञानिक निर्देशों को ठीक प्रकार समझ नहीं सकते थे। वेदों के कतिपय भागों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि भारत में कई वैज्ञानिक खोजें इतनी गहरी भी हो चुकी हैं कि वैज्ञानिक अन्वेषणों के अग्रसर अमेरिका तथा योरोप से उन्नत देश भी अभी तक उस गहराई तक नहीं पहुँच पाये। इसी कारण वैदिक विज्ञान की गहराई के समझ सकने के साधनों के न होने के कारण ही हम वेदों के कई अंशों के वास्तविक अभिप्राय को नहीं समझ सकते। वास्तव में वेदों की पूर्ण तथा सन्तोष प्रद व्याख्या के लिये आवश्यक है कि व्या-

ख्याता को सभी विज्ञानों और उनकी व्याख्याओं से पूर्ण परिचय हो। बिना इस पूर्ण परिचय के वेदों के भाष्य के लिये यत्न करना दौर्भाग्य तथा अनिष्ट है।" आगे वे लिखते हैं— "It is perfectly plain, therefore, that it is only, one that has attained a thorough knowledge of Agriculture, Commerce, Geology, Astronomy, Hydro-statics, Ignology, Botany, Geology, Physiology and the science of war, can also be a fit interpreter of the Vedas, and that. it is only a commentary written by such an Expositor that can alone give full satisfaction and remove all doubts." अर्थात् "इसलिये यह स्पष्ट है कि वही मनुष्य वेदों का योग्य भाष्यकार हो सकता है जिसे कि कृषिशास्त्र, व्यापार, भूगर्भशास्त्र, ज्योतिष. जलस्थिति विद्या, अग्नि विद्या, वनस्पति शास्त्र, जीवशास्त्र, शरीर शास्त्र तथा युद्धविद्या आदि का पूर्ण ज्ञान हो। ऐसे व्यक्ति द्वारा लिखा गया भाष्य ही केवल पूर्ण सन्तोष दे सकता है। और सब प्रकार के संशयों को मिटा सकता है।"

ऋषि दयानन्द के आगमन से पूर्व वेद के अर्थ करने वाले भाष्यकारों में साम्प्रदायिक भाव घर कर चुका था। वेदार्थ का असली स्वरूप साम्प्रदाय वाद तथा उस समय की रूढ़िवादों की काली घटाओं में शताब्दियों तक छिपा रहा। किसी भी निष्पक्षपात जिज्ञासु के लिये वेदार्थ का शुद्ध स्वरूप जानना कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव हो रहा था। इस प्रकार से वेद का शुद्ध स्वरूप ही सर्वथा लुप्त था। ऐसी भयङ्कर परिस्थिति

में वेद के सत्यार्थ को ऋषि दयानन्द ने अपने तप तथा विद्या के बल पर निर्धारित किया और वेद के सत्य स्वरूप को संसार के सामने खोल कर रख दिया। ऋषि दयानन्द ने सत्य की अटल चट्टान पर खड़े होकर शास्त्र-सम्बन्धी विविध रूढ़ियों, प्रचलित रीतियों, विविधवादों तथा मत-मतान्तरों के जाल को छिन्नभिन्न कर के अविचल रूप से सत्य का प्रकाश किया। उन्होंने निर्भय होकर एकदम सब वेद-विरुद्ध रूढ़ियों तथा वादों के विरुद्ध घोषणा कर दी कि 'वेद प्रभु की वाणी' 'नित्य' और 'स्वतः प्रमाण हैं। इस में किसी व्यक्ति विशेष का इतिहास नहीं।' आचार्य दयानन्द की वेदार्थ-सम्बन्धी क्रान्ति को लोग मन माना बताते रहे। परन्तु आचार्य दयानन्द ने सत्य के सामने संसार की कुछ भी परवाह नहीं की। जैसे कि हमने ऊपर लिखा है कि अन्ततोगत्वा दयानन्द के विचारों की ही विजय हुई और मैक्समूलर जैसे विद्वानों को भी ऋषि दयानन्द के सामने सिर झुकाना पड़ा। श्रीयुत नोजा एम. ए. अपनी कृति Vedic father of Geology में लिखते हैं कि "मैं स्वीकार करता हूँ कि भूगर्भ-विज्ञान के सम्बन्ध में कोई विशेष पुस्तक ऐसी उपलब्ध नहीं होती जिस से हमें पता लग सके कि प्राचीन समय में इस विज्ञान का पर्याप्त परिचय था। परन्तु इन सब त्रुटियों के होते हुए भी, ऐसी साक्षियाँ तथा संकेत पर्याप्त संख्या में विद्यमान हैं, जो भारतीय साहित्य में —विशेषतया वेदों में—यत्र-तत्र बिखरे हुए पड़े हैं, जिनसे यह स्पष्टतया विदित होता है कि प्राचीनकाल के वैदिक ऋषि भूगर्भ-विद्या का गम्भीर ज्ञान रखते थे। श्री अरविन्द घोष लिखते हैं—"प्राचीन भारतीय संस्कृति में कितने ही वैज्ञा-

निक तत्व अन्तर्निहित थे। उनमें से कुछ तत्वों का आधुनिक विज्ञान द्वारा, पुनराविर्भाव तथा विस्तार किया गया है। परन्तु ऐसे कई मर्म अब तक अन्धकार में अन्तर्लीन हैं, जिनको प्रकाश में नहीं लाया जा सका। अतः महर्षि दयानन्द की इस स्थापना में कोई विचित्रता नहीं कि वेदों में सब वैज्ञानिक सत्य अन्तर्निहित हैं। मेरा अपना भी निश्चित विश्वास है कि वेदों के गर्भ में ऐसे कितने ही वैज्ञानिक रहस्य छिपे हुए हैं, जिनका ज्ञान अर्वाचीन जगत् को बिल्कुल नहीं।"

यह स्पष्ट है कि महर्षि दयानन्द के सिद्धान्तों का प्रचार समस्त शिक्षित संसार में दिन-प्रतिदिन हो रहा है। मनुष्य-जाति का इतिहास, १९वीं शताब्दी के इस महान् विचारक के विचारों से स्पष्टतया प्रभावित हो रहा है। जिस आचार्य दयानन्द के प्रताप से हम वेदों के सत्यार्थ को समझने में समर्थ हुए हैं, उस आचार्यवर दयानन्द के चरणों में हमारा सिर नतमस्तक होकर बार-बार झुकता है। परमात्मा कृपा करें कि आचार्य दयानन्द का प्रभाव सारे भूमण्डल में हो और सारा संसार ऋषि को जगद्गुरु मान कर "वैदिकधर्म की जय" से आकाश-मण्डल को गुँजायमान कर दे।

आर्यसमाज कोटा,
पौष सुदि १८, १९९०.

यशःपाल

प्रथम अध्याय

वेद ईश्वरीय ज्ञान है।

आर्य जाति के पूर्व विद्वानों, ऋषियों, मुनियों तथा जन साधारण का अनादिकाल से यह विश्वास चला आया है कि वेद ईश्वरप्रणीत होने से अपौरुषेय अतएव निर्भ्रान्त हैं। वेद, अनादि, अनन्त और नित्य हैं। वेद में शब्दार्थ सम्बन्ध भी नित्य है। वैदिक धर्म का मुख्य सनातन सिद्धान्त यह है कि वेद सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व निर्मित हुए। सब ज्ञान और विद्याओं का मूल वेद में है। वेद से ही सब ज्ञान साक्षात् अथवा परम्परा से उत्पन्न हुआ और वैदिक सत्य का ही समयान्तर में विकास हुआ। संसार के सर्व माननीय तथा प्रचलित धर्मों और धर्म ग्रन्थों में सत्य का जो अंश उपलब्ध होता है उसका सम्बन्ध परम्परा रूप से वेदों के ही साथ है। ब्रह्मा से लेकर ऋषि दयानन्द पर्यन्त आर्यावर्त्त में जितने विद्वान् महात्मा ऋषि मुनि हुए हैं उनका सदा से ही यह विश्वास चला आया है कि वेद परमात्मा की बाणी हैं। सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यों को धर्माधर्म, पापपुण्य, कर्त्तव्या-

कर्त्तव्य का ज्ञान देने के लिये परमात्मा ने वेद का ज्ञान दिया। यदि सृष्टि के प्रारम्भ में परमात्मा कोई ज्ञान न दे तो उस समय के मनुष्यों को धर्माधर्म का ज्ञान स्वतः नहीं हो सकता। मनुष्य की बुद्धि धर्माधर्म का ज्ञान करने में अपर्याप्त है। बड़े २ विद्वानों की बुद्धि भी इसके निर्णय करने में कई बार असमर्थ हो जाती है। कर्त्तव्याकर्त्तव्य विवेक अत्यन्त कठिन है।

वेद के ईश्वरीय ज्ञान होने में वेद का प्रमाण

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥
यजुर्वेद ३१। ७॥

अर्थात् उस सर्वहुत (सर्व पूर्ण) पुरुष से ऋग्वेद, सामवेद छंदांसि (अथर्ववेद) और यजुर्वेद उत्पन्न हुए। उक्त मन्त्र में यज्ञ शब्द विष्णु का वाचक है। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि "यज्ञो वै विष्णुः" अर्थात् सर्वव्यापक भगवान् विष्णु को यज्ञ कहते हैं। तात्पर्य यह है कि उस सर्वव्यापक परमेश्वर से चराचर सृष्टि उत्पन्न हुई और मनुष्य की सहायता के लिये, जो इस सृष्टि के विषय में विचार करने को समर्थ है, वेद भी उसी परमात्मा से उत्पन्न हुए।

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः।

अथर्व० १० । प्राप० ३२, अनु० ४ । मं० २०

जिस सर्व शक्तिमान् परमात्मा से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद उत्पन्न हुए हैं वह देव कौन है । यह प्रश्न है । इसका उत्तर वेद के इसी मन्त्र में दिया है कि ऋग्वेदादि का पैदा करने वाला स्कम्भ अर्थात सारे संसार का धारण करने वाला परमात्मा है ।

३—एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः । शतपथब्राह्मण १४,५,४,१८ ॥

इसका भावार्थ यह है कि याज्ञवल्क्य ऋषि कहते हैं "हे मैत्रेयि, उस महान् परमेश्वर से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद श्वासोच्छ्वास के समान सहज ही प्रकट हुए" । जैसे मनुष्य का श्वास सहज ही भीतर से बाहिर निकलता है और फिर भीतर चला जाता है उसी तरह वेद सृष्टि की उत्पत्ति के पूर्व परमेश्वर से सहज उत्पन्न होते हैं और सृष्टि के अन्त में (प्रलय के समय) उसी परमेश्वर में लीन हो जाते हैं । 'वेद सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व उत्पन्न हुए' इससे यह भी नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि परमात्मा को मनुष्य जाति पर कितना अनुग्रह है । मनुष्य शब्द की व्युत्पत्ति यह है कि 'मननात् मनुष्यः' अर्थात् जो मनन कर सकता है उसे मनुष्य कहते हैं ।

यद्यपि मनुष्य विचारवान् होने से तथा बुद्धियुक्त होने से विचार करने का सामर्थ्य रखता है और वह इस सृष्टि के घटनाचातुर्य और तन्नियामक शक्तियों का ज्ञाता है—तथापि

यदि उसे किसी निर्जन वन में रख दिया जाय जहां मृत्युपर्यन्त उसका किसी भी मनुष्य से सम्बन्ध न हो तो वह केवल अपनी बुद्धि के आधार पर कभी भी उन्नति न कर सकेगा और सर्वथा ज्ञानशून्य रहेगा। यदि परमात्मा सृष्टि के प्रारम्भ में वेद का ज्ञान न देता तो अभी तक सब मनुष्य पशु के समान बने रहते। मनुष्य का ज्ञान केवल परावलम्बी है जैसे बिना मन की सहायता के न तो आंखें कुछ देख सकती हैं और न कान कुछ सुन सकते हैं वैसे ही मनुष्य का स्वभाविक ज्ञान चतुर्विध पुरुषार्थ की प्राप्ति में बिना वेद की सहायता के असमर्थ है।

अन्यत्रमना अभूवंनादर्शं अन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषम्।'

यह बृहदारण्यक का वचन है। यदि मन स्थिर न हो या किसी उपाधि के कारण व्यापारविमुख हो जाय तो सम्पूर्ण ज्ञानेन्द्रियों के उपस्थित रहने पर भी किसी कार्य करने में भी इन्द्रियां सर्वथा असमर्थ हैं। सारांश यह है कि जैसे मन की सहायता के बिना ज्ञानेन्द्रियां निरुपयोगी हो जाती हैं वैसे ही ईश्वरीय ज्ञान के बिना मन तथा बुद्धि विकसित नहीं हो सकती। और मनुष्य चतुर्विध पुरुषार्थ के सम्पादन में असमर्थ हो जाता है।

वेद के ईश्वरीय तथा नित्य होने में ऋषियों की सम्मति

वैशेषिक सूत्रकार कणाद मुनि कहते हैं कि—

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्। वैशेषिक १। १। ३॥

अर्थात् वेद ईश्वरोक्त हैं इनमें सत्यविद्या और पक्षपात

रहित धर्म का ही प्रतिपादन है। इससे चारों वेद नित्य हैं। ऐसा ही सब मनुष्यों को मानना उचित है क्योंकि ईश्वर नित्य है अतः उसका ज्ञान भी नित्य है।

इसी प्रकार से न्यायशास्त्र में गौतम मुनि कहते हैं कि—

"मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्"

२। १। ६७॥

अर्थात् वेदों को नित्य ही मानना चाहिये क्योंकि सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर आजपर्यन्त ब्रह्मादि जितने आप्त होते आये हैं वे सब वेदों को नित्य ही मानते आये हैं। आप्तपुरुषों का कथन प्रामाणिक होता है क्योंकि आप्त उन्हें कहते हैं जो धर्मात्मा कपट, छलादि दोषों से रहित सब विद्याओं से युक्त महायोगी और सत्यवक्ता हैं, जिनमें लेशमात्र भी पक्षपात नहीं था उन्हों ने वेदों को ईश्वरप्रणीत तथा प्रमाणिक माना है। जैसे आयुर्वेद के एक देश में कहे औषध और पथ्य के सेवन से रोग की निवृत्ति होती है और उनके एक देश में कथित बात के सत्य होने से उसके दूसरे भाग का भी प्रमाण होता है उसी प्रकार वेद के एक देश में कहे अर्थ की सत्यता सिद्ध होने से उससे भिन्न जो वेदों के भाग हैं जिनका कि अर्थ प्रत्यक्ष न हुआ हो उनको भी प्रमाणिक मानना चाहिये।

योगशास्त्र में पतञ्जलि मुनि कहते हैं कि—

"स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

(पातञ्जल योगशास्त्र १। १२६।)

अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा इत्यदि ऋषियों से लेकर अद्यावधि जितने भी मनुष्य पैदा हुए हैं और भविष्य में होंगे उन सब का आदि गुरु परमेश्वर है क्योंकि वेद द्वारा सत्यार्थ का प्रकाश करने से परमात्मा गुरु है। यदि परमात्मा सृष्टि के आरम्भ में वेद का ज्ञान न देता तो मनुष्यों की अवस्था सर्वथा पशु तुल्य होती तथा धर्माधर्म विवेक और सद्सद् विचार में मनुष्य सर्वथा असमर्थ होता।

सांख्यशास्त्र में कपिल मुनि कहते हैं कि—

(निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतःप्रामाण्यम् १-५१)

परमेश्वर की स्वाभाविक विद्या तथा ज्ञान शक्ति से प्रकट होने से वेदों का नित्यत्व और स्वतः प्रमाणत्व सब मनुष्यों को स्वीकार करना चाहिये।

वेदान्तशास्त्र में व्यास मुनि कहते हैं कि—

"शास्त्रयोनित्वात्" ।१-१-३ ॥

अर्थात् ऋग्वेदादि चारों वेद अनेक विद्याओं से युक्त हैं और सूर्य के समान सब सत्य अर्थों के प्रकाश करने वाले हैं उनका बनाने वाला सर्वज्ञादि गुणों से युक्त परमात्मा है। क्योंकि सर्वज्ञ ब्रह्म से भिन्न कोई सर्वज्ञगुणयुक्त वेदों का निर्माण नहीं कर सकता। किन्तु वेद के आधार पर ही जीव अन्य शास्त्रों के बनाने में समर्थ होसकता है जैसे पाणिनि आदि मुनियों ने व्याकरणादि शास्त्रों को बनाया है। उनमें विद्या के एक २ भाग का प्रकाश किया है। किन्तु सब विद्याओं से युक्त वेदों के बना

ने में कोई समर्थ नहीं हो सकता, परन्तु परमेश्वर निर्मित वेदों के पढ़ने. विचारने से और उसी के अनुग्रह से मनुष्यों को ज्ञान प्राप्त होता है अन्यथा नहीं।

कई लोगों को यह शङ्का होती है कि निराकार ईश्वर से शब्दमय वेद कैसे उत्पन्न हो सकते हैं। इसका उत्तर यह है कि परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है। उसके विषय में ऐसी शंका निरर्थक है क्योंकि मुख तथा प्राणादि साधनों के बिना भी परमेश्वर में मुख तथा प्राणादि के कार्य करने की सामथ्र्य विद्यमान है। यह दोष तो जीव में आसकता है कि वे मुखादि के बिना कार्य नहीं कर सकते क्योंकि मनुष्य अल्प सामर्थ्य वाला है। साथ ही इस बात को इस तरह भी समझा जा सकता है कि मन में मुखादि अवयव नहीं हैं तथापि उसमें प्रश्नोत्तर रूप से नाना शब्दों का उच्चारण मानस व्यापार में होता रहता है वैसे ही परमेश्वर में भी जानना चाहिये। तथा सर्वशक्तिमान् होने से परमात्मा किसी भी कार्य के करने में किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता क्योंकि वह अपने सामर्थ्य से ही सब कार्यों को कर सकता है। इतने महान् ब्रह्माण्ड तथा लोकलोकान्तरों को बिना किसी की सहायता के जैसे परमात्मा निर्माण कर सकता है वैसे ही मुखादि अवयव के बिना भी परमेश्वर वेद का ज्ञान दे सकता है। इस पर यह भी शङ्का हो सकती है कि इतने महान् ब्रह्माण्ड के रचने का सामर्थ्य तो परमेश्वर के बिना अन्य किसी

में होना सम्भव नहीं, परन्तु जैसे व्याकरणादि शास्त्र के रचने में मनुष्यों का सामर्थ्य हो सकता है वैसे ही वेदों की रचना भी मनुष्य कर सकता है। इसका उत्तर यह है कि वेदादि को पढ़कर ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद ही ग्रन्थ रचने का सामर्थ्य किसी को हो सकता है। उसके पढ़ने तथा ज्ञान के बिना कोई भी मनुष्य विद्वान् नहीं हो सकता। जैसे इस समय भी किसी शास्त्र को पढ़ के और किसी का उपदेश सुनकर ही तथा मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहारों को देखकर ही मनुष्यों को ज्ञान होता है। उदाहरणार्थ किसी मनुष्य के बालक को जन्म से एकान्त में रखके उसको अन्न तथा फल युक्ति से देवे, परन्तु उसके साथ भाषणादि व्यवहार लेश-मात्र भी न करे और मृत्युपर्यन्त उससे किसी भी मनुष्य का सम्बन्ध न होने दे तो वह कभी भी विद्वान् नहीं हो सकता और सभ्यता तथा ज्ञान की साधारण बातों से भी अनभिज्ञ रहेगा। असीरिया के महाराज असुरवाणिपाल तथा मुग़ल सम्राट् अकबर के परीक्षण इस बात के ज्वलन्त प्रमाण हैं।

वेदों की उत्पत्ति ईश्वर से होने के कारण यह भी निर्विवाद है कि वेद नित्य अर्थात् त्रिकालाबाधित हैं और उनके सिद्धान्त सर्वव्यापक हैं। क्योंकि ईश्वर का सामर्थ्य नित्य है। वेदों का कभी नाश नहीं होता, जिस पत्र पर वेद लिखे गये हैं उनका नाश होने पर भी वेदज्ञान का नाश नहीं होता, और पठन पाठन परम्परा का लोप हो जाने पर भी वह ईश्वरीय

ज्ञान नष्ट नहीं होता, इसका कारण यह है कि ईश्वर के पास वेदज्ञान सदा विद्यमान रहता है। वह स्वयं वेदरूप अर्थात् ज्ञानरूप है, ईश्वरीय ज्ञान नित्य और अव्यभिचारी है। इसलिये वेदों का शब्दार्थ सम्बन्ध जैसा वर्तमान समय में दीख पड़ता है वैसा ही वह पूर्व कल्पों में था और वैसा ही भविष्य में रहेगा, जैसा कि वेद में कहा है कि—

"सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्"

अर्थात् पूर्वकल्पों में परमेश्वर ने सूर्य चन्द्रादि सब सृष्टि की जैसी रचना की थी वैसी ही उसने इस सृष्टि की भी की है। ईश्वरीय ज्ञान पूर्ण है अर्थात् न उसका नाश होता है और न उसमें वृद्धि होती है। यद्यपि ईश्वरीय ज्ञान अनन्त है, तथापि वेद द्वारा परमात्मा उतना ही ज्ञान देता है जितना कि मनुष्य के लिये आवश्यक है। जिसके द्वारा मनुष्य अभ्युदय तथा निःश्रेयस की प्राप्ति कर सके। यह बात भली प्रकार समझ लेनी चाहिये कि पुस्तक के नाश से वेद का नाश नहीं हो सकता क्योंकि वेद तो शब्दाथ तथा सम्बन्ध स्वरूप हैं, मसो, कागज, पत्र, पुस्तक और अक्षरों की बनावटरूप नहीं। यह जो लेखनादि सामग्री है यह मनुष्यनिर्मित है। इससे यह अनित्य है परन्तु ईश्वर का ज्ञान नित्य है। इससे यह पूर्णतया स्पष्ट है कि पुस्तक के अनित्य होने से वेद अनित्य नहीं हो सकते क्योंकि वे बीजाङ्कुरन्याय से ईश्वर के ज्ञान में नित्य वर्तमान रहते हैं। सृष्टि के प्रारम्भ

में ईश्वर से वेदों की प्रसिद्धि होती है और प्रलय में जगत् के न रहने से उनकी अप्रसिद्धि होती है इस कारण से वेद नित्य स्वरूप ही बने रहते हैं। जैसे इस कल्प के आरम्भ में शब्दार्थ-सम्बन्ध वेदों में है इसी प्रकार से पूर्वकल्प में भी था और आगे भी होगा। ऋग्वेदादि चारों वेदों की संहिता अब जिस प्रकार की है और इसमें शब्दार्थ-सम्बन्ध तथा क्रम जैसा अब है इसी प्रकार रहेगा क्योंकि ईश्वरीय ज्ञान के नित्य होने से उसमें वृद्धि-क्षय तथा विपरीतता नहीं हो सकती। भारतीय शास्त्रकारों ने शब्दों को भी नित्य माना। जितने भी अक्षरादि अवयव हैं वे सब कूटस्थ अर्थात् विनाश रहित हैं। कान से जिनका ग्रहण होता है और वाणी से उच्चारण करने से जो प्रकाशित होते हैं और जिनका निवास स्थान आकाश है उनको शब्द कहते हैं। शब्द आकाश की भांति सर्वत्र विद्यमान हैं परन्तु तब तक उच्चारण क्रिया नहीं होती जब तक वे सुनने में नहीं आते। जब प्राण तथा वाणी की क्रिया से उच्चारण किये जाते हैं तब प्रसिद्ध होते हैं।। जैसे 'गौ' इसके उच्चारण में जब तक उच्चारण क्रिया गकार में रहती हैं तब तक औंकार में नहीं, जब औंकार में है तब गकार और विसर्जनीय में नहीं रहता। इसी प्रकार वाणी की क्रिया की उत्पत्ति और नाश होता है, शब्दों का नहीं। किन्तु आकाश में शब्द की व्याप्ति होने से शब्द तो अखण्ड एक रस सर्वत्र भर रहे हैं परन्तु जब तक वायु तथा वाग्-

इन्द्रिय की क्रिया नहीं होती तब तक शब्दों का उच्चारण तथा श्रवण भी नहीं होता। इससे यह स्पष्ट सिद्ध है कि शब्द आकाश की तरह नित्य हैं। शब्दों के नित्य होने से शब्दों का समुच्चय वेद भी नित्य है।

वेद का लक्षण

विद्याधर स्वामी ने वेदार्थ प्रकाश में वेद का लक्षण इस प्रकार से किया है कि—

"इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकं उपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः"

अर्थात् जो ग्रन्थ इष्ट वस्तु की प्राप्ति और अनिष्ट वस्तु के त्याग करने का अलौकिक उपाय सिखलाता है उसको वेद कहते हैं। यहां 'अलौकिक' पद से प्रत्यक्ष और अनुमित प्रमाणों की व्यावृत्ति की गई है। जैसे

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विन्दति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥

अर्थात् जो उपाय प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों से भी मालूम नहीं होता, वह वेदों से जाना जाता है। इसलिये वेदों का वेदत्व सिद्ध होता है।

ऋषि दयानन्द जी वेद का लक्षण इस प्रकार से लिखते हैं कि छन्द, मन्त्र, वेद, निगम, मन्त्र तथा श्रुति ये सब नाम पर्याय वाचक हैं। अविद्यादि दुखों के दूर करने तथा सुख देने से वेद का नाम 'छन्द' है। तथा च वेदाध्ययन से सब

विद्याओं की प्राप्ति होती है और उससे मनुष्य प्रसन्न होता है इसलिये भी वेद का नाम 'छन्द' है। गुप्त पदार्थों की अभिव्यक्ति का साधन होने से 'मन्त्र' नाम वेद का है। तथा सब सत्य पदार्थों का परिज्ञापक होने से भी मन्त्र नाम वेद का है। सब विद्यायें जिससे सुनी या जानी जाती हैं वह 'श्रुति' भी वेद का ही नाम है। ऋषि दयानन्द ने अपने शब्दों में—

अविद्यादिदुखानां निवारणात् सुखैराच्छादनाच्छन्दोवेदः।

(२) गुप्तानां पदार्थानां भाषणं यस्मिन्वर्त्तते स मन्त्रो वेदः। अथवा मन्यन्ते ज्ञायन्ते सर्वैर्मनुष्यैः सत्याः पदार्थाः येन यस्मिन्वा स मन्त्रोवेदः (३) श्रूयन्ते वा सकला विद्या यया सा श्रुतिर्वेदो मन्त्रश्च श्रुतयः। (४) तथा निगच्छन्ति नितरां जानन्ति प्राप्नुवन्ति वा सर्वाविद्या यस्मिन् स निगमो वेदो मन्त्रश्चेति।

द्वितीय अध्याय

वेद और विकासवाद

वेद ईश्वरीय ज्ञान है। बिना प्रारम्भिक ज्ञान के मानव जाति कभी भी उन्नति नहीं कर सकती। जिस प्रकार बिना दियासलाई के बारूद में आग नहीं लग सकती और बिना रगड़ के दियासलाई भी नहीं जल सकती; उसी प्रकार मनुष्य की स्वाभाविक बुद्धि भी, बिना ज्ञान के विकसित नहीं हो सकती। संसार की असभ्य जातियों का इतिहास तथा वर्तमान अवस्था इस बात के ज्वलन्त उदाहरण हैं। जैसे बिना सिखाये मनुष्य का बालक केवल बुद्धि के आधार पर साधारण व्यावहारिक बात जानने में भी असमर्थ है इसी प्रकार से असभ्य जातियां भी बिना सभ्यजाति के संसर्ग के विकसित तथा उन्नत नहीं हो सकती। इस बीसवीं सदी में भी—जिसे कि सभ्यता का सब से उन्नत काल कहा जाता है ऐसी बीसियों जातियां विद्यमान हैं जिनके लोग १० तक गिनना तथा भोजन बनाने की कला भी नहीं जानते। कच्चा मांस खाकर तथा निपट नंगे रहकर ही वे अपने जीवन के दिन काट रहे

हैं। ज्ञान गुरु परम्परा के आधीन है। बिना गुरु के कोई भी मनुष्य ज्ञानवान् नहीं हो सकता यहाँ तक कि मनुष्य का बच्चा बिना सिखाये केवल अपनी बुद्धि के आधार पर तैरना भी नहीं जान सकता, जब कि पशु का बच्चा पैदा होने के साथ ही तैरने लग जाता है। पशु को प्रभु ने स्वाभाविक बुद्धि (Instinct) दी है जिसके आधार पर पशु जीवनोपयोगी सब व्यवहार सिद्ध कर लेता है। परन्तु मनुष्य के बालक को साधारण सी बात भी बिना सिखाये नहीं आ सकती। इसलिये हमारे लिये यह मानना अनिवार्य है कि सृष्टि के प्रारम्भ में भी बिना परमात्मज्ञान के मनुष्य जाति उन्नत नहीं हो सकती। जिस प्रभु ने मानव जाति के कल्याण के लिये सृष्टि के प्रारम्भ में सूर्य, चन्द्रमा, वायु, पृथिवी, बनस्पतियां, जलादि आवश्यक पदार्थों की उत्पत्ति की। उसी परम कारुणिक भगवान् ने मनुष्य बुद्धि के विकास के लिये तथा धर्माधर्म, कर्तव्याकर्तव्य, सदसद् विवेक के लिये वेद का ज्ञान दिया। जैसे कोई भी गवर्नमेंन्ट अपने शासन को सुचारू रूपेण चलाने के लिये नियमों का निर्माण करती है उसी प्रकार से प्रभु ने ऋत तथा सत्य के ज्ञान के लिये वेद का ज्ञान दिया। जैसे सूर्यादि में कोई परिवर्तन नहीं हुआ उसी प्रकार परमात्मज्ञान भी अखण्ड तथा सदा एक रस है। सृष्टि के प्रारम्भ में परमात्मा ने जो ज्ञान दिया वही ज्ञान सदा चला आता है, उसमें परिवर्त्तन की कोई आवश्यकता नहीं।

विकासवाद की समीक्षा

आजकल यूरोप में विकासवाद (Evolution) के सिद्धान्त का बड़ा प्रचार है। इसके मानने वालों का यह सिद्धान्त है कि मनुष्य बानर की औलाद है और पशु से विकसित होकर ही मनुष्य इस अवस्था तक पहुंचा है। साथ ही इनका यह भी मन्तव्य है कि मनुष्य प्रारम्भ में जङ्गली था और धीरे २ विकास हुआ और मनुष्य इस अवस्था तक पहुंचा है। इसलिये किसी भी ईश्वरीयज्ञान के मानने की आवश्यकता नहीं। मनुष्य अपनी बुद्धि के आधार पर संसार में सब प्रकार की उन्नत्ति कर सकता है। विकासवाद के सिद्धान्त ने योरोप में ईसाई मत की नींव हिलादी और ईसाई मत का भवन इस सिद्धान्त के सामने डगमगा गया। आज शरीरिक विकास (Physical Evolution) के विषय में हम विशेष नहीं लिखना चाहते क्योंकि उसका हमारे विषय के साथ बहुत सम्बन्ध नहीं है तथापि इस विषय में प्रसङ्गागत कुछ विद्वानों के आधार पर इतना लिख देना आवश्यक है कि विज्ञान की उन्नति ने इस सिद्धान्त का भी प्रतिवाद कर दिया है और इस मत का ज़ोर अब योरोप में भी कम हो रहा है। ब्रिटिश म्यूज़ियम के डाक्टर एथरिज (Ethridge)लिखते हैं कि—

In all this great museum there is not a particle of evidence of transmutation of species. Nine tenth of the talk of evolution is

sheer nonsense not founded on observation and wholly unsupported by facts.

अर्थात् सारे ब्रिटिश म्यूजियम में जाति परिवर्त्तन का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। विकासवाद के सिद्धान्त के लिये कोई प्रमाण नहीं। यह कोरी कल्पना है। प्रोफेसर अर्विन का कथन है कि—

"No instance of the change of species in to another has ever been recorded by man."

अर्थात् जाति परिवर्त्तन का मनुष्य के पास कोई भी प्रमाण नहीं है। प्रोफैसर जे० ए० थाम्पसन लिखते हैं कि—

We do not know whence he emerged······ nor do we know how man arose··for it must be admitted that the factors of evolution of man partake largely of the nature of may-be's, which has no permanent position in science."

अर्थात् हम नहीं बतला सकते कि मनुष्य का प्रादुर्भाव कहां से तथा कैसे हुआ। परन्तु इतना हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि विकासवाद के सिद्धान्त की वैज्ञानिक दृष्टि से कोई स्थिर स्थिति नहीं है। जे० डबल्यू डौसन का कथन है कि—

"No remains of intermediate forms are yet known to science. The earliest known re-

mains of man are still human and tell us nothing as to the previous stages of development."

अर्थात् जाति परिवर्त्तन का विज्ञान के पास कोई प्रमाण नहीं है। अब तक यही साबित हुआ कि मनुष्य प्रारम्भ से इसी रूप में है। सिडने कालेट, अपनी 'स्क्रिप्चर आफ़ ट्रूथ' पुस्तक में लिखते हैं कि:—

Science is equally explicit in its testimony that instead of man having slowly improved from the lower to the higher, the tendency is exactly in the opposite direction."

अर्थात् विज्ञान के पास इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि मनुष्य नीचे से ऊपर की तरफ नहीं बढ़ा। सत्य सत्य इससे विपरीत है। इस प्रकार से कई चोटी के विद्वानों की सम्मति के आधार पर हमने यह दिखलाया कि शारीरिक विकास के लिये भी विद्वानों के पास पर्याप्त प्रमाण नहीं है। बौद्धिक विकास के लिये भी उसी प्रकार से विकासवादियों के पास कोई प्रमाण नहीं। हम इस बात को सप्रमाण सिद्ध करने का यत्न करेंगे कि जहां संसार ने कई बातों में उन्नति की है वहां बहुत सी बातों में संसार ने अवनति भी की है। यदि विकासवाद का सिद्धान्त ठीक मान लिया जाय तो मनुष्य जाति का इतिहास उन्नति का ही इतिहास होता। परन्तु हम देखते हैं कि नैतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से तो

संसार में अत्यंन्त पतन हुआ है जिसका वर्णन भी लेखनी से करना असम्भव है। शारीरिक बल में भी मनुष्य जाति दिनों दिन ह्रास को प्राप्त हो रही है। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक क्षेत्र में भी पूर्व समय में आज कल के समान ही उन्नति थी। प्राकृतिक सभ्यता के कई क्षेत्रों में पूर्व काल में आजकल से भी अधिक उन्नति थी जैसा कि आगे चलकर हम सिद्ध करेंगे। मानव जाति का इतिहास परिवर्त्तन का इतिहास है। जातियों का उत्थान तथा पतन स्वाभाविक है। भारतवर्ष जगद् गुरु है। किसी समय इसकी सभ्यता तथा संस्कृति का सूर्य भूमण्डल की चारों दिशाओं को आलोकित कर रहा था परन्तु वही भारत आज अवनति के गढ़े में गिरा हुआ है। किसी समय में रोम, असीरिया, बेबिलोनिया, ग्रीस इत्यादि देश उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच गये थे। परन्तु आज इनकी सभ्यता प्रायः मलियामेट हो चुकी है। इस प्रकार से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि विकास का सिद्धान्त ऐतिहासिक कसौटी पर कसे जाने पर सत्य सिद्ध नहीं होता। भारत तथा ग्रीस ने किसी समय में सभ्यता तथा विद्या के हर एक क्षेत्र में अपूर्व तथा अद्‌भुत उन्नति की थी और आज योरोप अपनी सारी शक्ति के साथ भी उस उन्नति तक नहीं पहुंच सका। उदाहरणार्थ कुछ बातों पर हम यहां प्रकाश डालना चाहते हैं—

ज्योतिष शास्त्र

या गौर्वर्तनिं पर्येति निष्कृतं पयो दुहाना व्रतनीरवारतः ।
सा प्रब्रुवाणा वरुणाय दाशुषे देवेभ्यो दाशद्धविषा विवस्वते ॥

ऋग्वेद १० । ६५ । ६ ॥

(या) जो (गौः) पृथिवी (व्रतनीः) अपने नियम का पालन करती हुई (दाशुषे वरुणाय) दानी और श्रेष्ठ जनों के लिये (अवारतः) चहुं ओर धारा प्रवाह से (निष्कृतं) निरन्तर (पयो दुहाना) अन्न रस फलादि भोग्य पदार्थों को उत्पन्न करती हुई (दाशत्) अनेक प्रकार की सुख साम-ग्रियों को पैदा करती है (सा) वह गौ (प्रब्रुवाणा) परमात्मा की महिमा का उपदेश करती हुई (वर्तनिं) अपनी कक्षा में (विवस्वते) सूर्य के चारों तरफ (पर्येति) घूमती हैं ।

(२) आयं गौ पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः ।
पितरं च प्रयन्त्स्वः ।

यह गौ (पृथिवी मातरं) जननी स्वरूप जल को (असदन्) प्राप्त होती हुई अर्थात् उसेअपने साथ लेती हुई (च) तथा (पितरं स्वः)निःशेष प्राणियों को पितृवत् उत्पन्न तथा पालन करने वाले सूर्यलोक के (पुरः) चारों तरफ (प्रयन्) चलती हुई (पृश्निः) अन्तरिक्ष में (आअक्रमीत्) भ्रमण करती है ।

(३) अहस्ता यदपदी वर्धत क्षाः शचीभिर्वेद्यानाम् ।
शुष्णं परि प्रदक्षिणद् विश्वायवे निशिश्नथः ॥

ऋग्वेद १० । २२ । १४ ॥

(क्षाः) यह पृथिवी (यद्) यद्यपि। (अहस्ता) हस्त-रहित (अपदी) तथा पैर से भी शून्य है तथापि (शुष्णं परि) सूर्य के चारों तरफ (प्रदक्षिणित्) प्रदक्षिणा करती हुई (वेद्यानान्) जानने योग्य भी परमाणु या पञ्चमूलतत्वों की(शचीभिः) क्रियाओं से प्रेरित होकर (वधंत) अपनी कक्षा में आगे बढ़ रही है (विश्वायवे) विश्व के उपकारार्थ (निशिश्नथः) हे ईश्वर तूने ऐसा प्रबन्ध किया है।

(४) भपंजरः स्थिरोभूरेवावृत्यावृत्याप्रतिदैवसिकौ
उदयास्तमयौ सम्पादयति ग्रहनक्षत्राणाम् ।। आर्यभट्ट ।।

अर्थात् आकाश स्थिर हैं। पृथिवी ही बार २ घूम कर प्रतिदिन ग्रहादि के उदयास्त का सम्पादन करती है । आकाश क्यों घूमता दिखाई देता है। इसका उत्तर ज्योतिषी आर्यभट्ट ने इस प्रकार से दिया है।

अनुलोमगतिर्नौस्थः पश्यत्यचलं विलोमगं यद्वत्।
अचलानीमानि तद्वल्लङ्कायां समपश्चिमगानि ।।

अर्थात् जैसे नौका में बैठकर तटस्थ वस्तुएं प्रतिकूल दिशा में जाती हुई दीखती हैं वैसे ही भूलोक-वासियों को सूर्यादि स्थिर गगनस्थपिण्ड लङ्का से ठीक पश्चिम को जाते हुए दीखते हैं।

उपरोक्त वचन से यह स्पष्ट है कि जहां विज्ञान ने पृथिवी के घूमने का सिद्धान्त अर्वाचीन काल में मालूम किया है वहां वेद अनादि काल से इस सत्य की घोषणा कर रहें हैं।

आयुर्वेद

आजकल मैडिकल साइन्स ने बहुत उन्नति की है परन्तु भारत का प्राचीन इतिहास पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारतीय भी इस विषय में सीमा तक पहुंचे हुये थे।

"In surgery, too, the Indians seem to have attained a special proficiency and in this department, European surgeons might, perhaps, even at the present day still learn something from them, as indeed they have already borrowed from them the operation of Rhinoplasty."

अर्थात् शल्यतन्त्र में भी प्राचीन भारतीयों ने अपूर्व योग्यता प्राप्त की थी। आजकल के योरोपियन सर्जन अब भी उससे कई बातें सीख सकते हैं। उन्हें बनावटी नाक लगाने की कला भी मालूम थी।

"The surgical instruments of the Hindus are sufficiently sharp, indeed, as to be capable of dividing a hair longitudinally"—Ancient and Modern India. Vol. 11 P. 346.

अर्थात् प्राचीन आर्यों के चिकित्सा सम्बन्धी शस्त्र भी इतने तेज थे कि वे एक बाल के बीच में से लम्बाई के रुख दो टुकड़े कर सकते थे।

The surgery of the ancient Indian physicians, was bold and skilful. They conducted amputations, arresting the bleeding by pressure, a cup-shaped bandage and boiling oil, practiced litholomy, performed operations in the abdomen and uterus, cured hernia, fistula, piles, set broken bone and dislocation and were dextrous in the extractions of foreign substances from the body. A special branch of surgery was devoted to rhinoplasty or operation for improving deformed ears and noses and forming new ones, a useful operation which European surgeons have now borrowed. The ancient Indian surgeons mention a cure for neuralgia, analogous to the modern cutting of fifth nerve above the eye-brow········. They were expert in midwifery, not shrinking from the most critical operation and in the disease of women and children. Indian Gazettier, "India." Page 220.

अर्थात् प्राचीन भारतीय चिकित्सक शिल्पविद्या में

अत्यन्त कुशल थे। वे पथरी, हर्निया, बवासीर इत्यादि बीमारियों का इलाज बड़ी कुशलता तथा सफलता से कर सकते थे। टूटी हुई तथा स्थानच्युत हड्डियों का इलाज भी कर सकते थे। स्त्रियों तथा बच्चों की बीमारियों के भी पूर्ण चिकित्सक थे।

भोजप्रबन्ध में लिखा है कि राजा भोज के सिर में बहुत दर्द होता था। बहुत चिकित्सा करने पर भी उसे आराम न हुआ। एक दिन उसके दर्बार में दो वैद्य आये। जिन्होंने दिमाग़ का औपरेशन किया और फिर संजीवनी से उसकी मूर्छा को दूर कर दिया।

इसी प्रकार जीवक महात्मा बुद्ध का निजू वैद्य था। उसने भी एक बार बड़ी कुशलता से उनकी खोपड़ी का आपरेशन (Cranical surgery) किया था। (History of Human medical science by Thakore sahib of Gondal.)

गृह-निर्माण विद्या

सर जोहन मार्शल जो कि (Director general Archeology in India) थे, वे लिखते हैं कि सिन्ध में खोज करने पर पुराने मकानों के भी खण्डरात मिलते हैं उनको देखने से यह स्पष्ट होजाता है कि गृह-निर्माण विद्या में भी प्राचीन आर्य कमाल कर चुके थे।

"The drainage system in particular is extraordinary well-developed. Every street and

alley, way and passage seems to have had its own course-conducts of finally chiselled brick, laid with precision which could hardly be improved upon......... Most of the buildings are divided into good sized rooms, floored over with brick and provided with covered drains, connected with larger drains, in the side streets. The existence of these roomy and well-built houses and relatively high degree of luxury seem to betoken a social condition of the people much in advance of what was then prevailing in Mesopotamia or Egypt.

सिन्ध में जमीन के अन्दर एक शहर खण्डरात रूप में मिला है। उसका वर्णन करते हुए सर मार्शल लिखते हैं कि मकानों में गन्दे पानी को बाहर करने की नालियों का ढंग इतना पूर्ण है कि उस विषय में और सुधार करने की गुञ्जाइश ही नहीं। मकानों में स्नान-गृह कूप इत्यादि अलग अलग हैं। घरों के अन्दर की नालियों का सम्बन्ध बाहर की नालियों के साथ है और वे नालियाँ ऊपर से ढकी हुई हैं। इन मकानों में आराम का सब सामान पाया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकीसामाजिक अवस्था इजिप्ट तथा मैसोपोटामिया से

बहुत उन्नत थी।

"The gold ornaments are so well-furnished and so highly polished that they might have come out of a Bond street jeweller's of today than from a pre-historic house of 5000 years ago."

अर्थात् जो सोने के आभूषण प्राप्त हुए हैं वे इतने सुन्दर हैं कि ऐसा प्रतीत होता है कि वे ५००० साल पूर्व के नहीं हैं परन्तु इस युग में लन्डन को सब से बढ़िया जौहरी की दुकान के बने हुए हैं।

"The ancient Indian erected buildings the solidarity of which has not been overcome by the evolution of thousands of years"—"British History of India".

प्राचीन भारतीयों ने जो मकान बनाये थे वे मकान हज़ारों सालों के व्यतीत हो जाने पर भी अपनी सुन्दरता को क़ायम रक्खे हुए हैं। अजन्ताकी गुफाओं का हाल पढ़ने से मनुष्य हैरान हो जाता है कि जिस प्रकार से पहाड़ों में गुफाएं बना-कर बौद्धकाल में उन पर इतनी सुन्दर चित्रकारी बनाई गई है जो कि सैकड़ों वर्षों के बीत जाने पर भी उसी प्रकार से कायम हैं। ये गुफाएँ औरङ्गाबाद से ५० मील की दूरी पर हैं। ३० सितम्बर १६३० के ट्रिब्यून में "इंगलिश मैन" से निम्न उद्ध-

रण लिया गया है—

"अर्थात् अजन्ता की गुफाओं की कारीगरी तथा रङ्ग-साज़ी अपूर्व है। निश्चित तौर से नहीं कहा जा सकता कि ये गुफाएँ कब खोदी गईं। परन्तु बहुत खोज करने पर और मूर्तियों तथा दूसरे चिन्हों के देखने से यह पता लगता है कि इनका निर्माण बौद्ध काल में हुआ होगा, यह भी पता लगता है कि इनका निर्माण दो हज़ार वर्ष पूर्व हुआ होगा और इनके बनाने में लाखों आदमी लगे होंगे।"*

---

*"No ancient remains in India display such remarkable combination of sculpture painting as the Ajenta caves."......"When these caves were excavated is not definitely known but their ornaments, emblems and divinities are uniformally the token of a Budhist origin...... This leads one to conclude that they must have been excaveted more than two thousands years ago, at a time when India was the cradle of the arts and industries. Millions of the people must have been employed on this."
[३० सितम्बर १६३० के ट्रिब्यून में "इंगलिश मैन" से उद्धृत]

विमान निर्माण की विधि

प्राचीन भारत में विमानों का भी प्रचार था तथा उन्हें नाना प्रकार के विमान बनाने का तरीक़ा भी आता था। रामायण कालीन पुष्पक विमान के अतिरिक्त प्राचीन भारतीय साहित्य में बहुत स्थलों पर विमानों का वर्णन आता है।

लघुदारुमयं महाविहङ्गं दृढ़सुश्लिष्टतनुं विधाय तस्य।
उदरे रसयन्त्रमादधीत ज्वलनाधारमधोऽस्यचाग्निपर्णम्॥
तत्रारूढ़ः पुरुषस्तस्यपक्ष द्वन्द्वोच्चाल प्रोज्भितेनानलेन।
सुप्तस्यान्तः पारदस्य शक्त्या, चित्रं कुर्वन्नम्बरे याति दूरम्॥

अर्थात् हलकी लकड़ी का बड़ासा पक्षी बनाकर और उसके शरीर के जोड़ों को मज़बूती से बन्द करके उसके पेट में पारे का यन्त्र लगा दें और उसके नीचे अग्नि का पात्र रक्खें। इस पक्षी पर बैठा हुआ मनुष्य पक्षी के परों के हिलने से तेज़ हुई आँच की गर्मी के द्वारा उड़ने वाले पारे का शक्ति से आकाश में दूर तक जा सकता है।

इत्थ मेवसुरमन्दिरतुल्यं सञ्चलत्यलघुदारुविमानम्
आदधीत विधिना चतुरोन्तस्तस्य पारदभृतान् दृढ़कुम्भान्॥
अयः कपालाहितमन्दवह्निप्रतप्ततत्कुम्भभुवा गुणेन।
व्योम्नो झगित्याभरणत्वमेति सन्तप्तगर्जद्रसराजशक्त्या॥

समराङ्गणसूत्रधार यन्त्रविधानाध्याय ३०। श्लो० ९७, ९८ तक

अर्थात् इसी प्रकार से लकड़ी का देवमन्दिर के आकार का बड़ा विमान भी आकाश में उड़ सकता है। चतुर रच-

यिता को चाहिये कि वह उसके भीतर पारे से भरे मज़बूत घड़ों को नियमानुसार रख के नीचे लगाये गये लोहे के कूँडों में आगे से उनको धीरे २ गर्म करें।

इस पर यह प्रश्न होता है कि पारा जल से १३·६ गुणा भारी है। और उसके भाफ बनने में जलीय वाष्प से अधिक ताप की आवश्यकता होती है। उस पर जल के स्थान में पारे का उपयोग ही क्यों किया। इसका उत्तर देते हैं कि "अर्थात् तत्रहेतुरयं ज्ञेयो व्यक्ता नैते फलप्रदाः। कथितानि अत्र बीजानि"

अर्थात् इनकी विधि सर्व साधारण के जान लेने से इनका महत्त्व कम होजाता है।

"यन्त्राणां घटना नोक्ता गुप्त्यर्थं नाज्ञतावशात्"—

इनकी विधि इसलिये नहीं बतलाई क्योंकि इसे गुप्त रखना चाहते हैं।

यन्त्रेण कल्पितो हस्ती नदद्गच्छन्-प्रतीयते।
शुकाद्याः पक्षिणः क्लृप्तास्तालस्यानुगमान्मुहुः॥
जनस्य विस्मयकृतो नृत्यन्ति च पठन्ति च।
पुत्रिका वा गजेन्द्रो वा तुरंगो मर्कटोऽपिवा॥
वचनैर्वर्तनैर्नृत्यंस्तालेन हरते मनः॥ ६२—६४

अर्थात् यन्त्र लगाकर बनाया गया हाथी चिंघाड़ता चलता मालूम होता है। तोते आदि पक्षी ताल पर नाचकर और बोलकर देखने वालों को हैरान कर देते हैं। पुतली हाथी घोड़े इत्यादि अपने अङ्गों को संचालन करके मन को

हर लेते हैं।

दारुजमिभस्वरूपं यत्सलिलं पात्रस्थितं पिबति।
तन्माहात्म्यं निगदितमेतस्य च्छ्रायतुल्यस्य ॥११५॥

अर्थात् लकड़ी का बना हाथी वर्तन का पानी पी सकता है। यहां पर उच्छ्राय यन्त्र से cyphon यन्त्र भी अभिप्रेत हो सकता है।

उपर्युक्त उदाहरणों की सत्यता तथा प्रामाणिकता निर्विवाद है। इनके उपस्थित रहते हुए बुद्धि का विकास (Intellectual Evolution) का सिद्धान्त पूर्णतया खण्डित हो जाता है और हम यह मानने पर बाधित हैं कि संसार का इतिहास जातियों के उत्थान तथा पतन का इतिहास है। एकान्त रूप से यह मान लेना कि प्राचीन लोग जंगली थे और धीरे २ उन्नति करते २ इस अवस्था तक पहुँचे हैं, नितान्त भ्रमपूर्ण हैं। अधो लिखित उदाहरण से हमारी बात की और भी पुष्टि होती है।

If the history of mankind is upward evolution, why should the Chinese have known of gunpowder and the mariner's compass before the christain era and lost them again ?. Why should we see to-day only the pitifull traces of the splendors of the Moghal Empire in the palaces and tombs of India. Why should the Hindu race have gone backward for 400 yea-

rs ? Why should the very art of manufacture of the enamelled tiles of the Empress Summer Palace in Peking and the method of working the colour into the walls of the Alimanbra at Granada be lost arts which perished with animal moors. ?

Why should the Egyptians be ignorant of the arts of astronomy and mathematics which enabled them to erect the great pyramid of cheops upon the principle of squaring the circle and at the point where it should absorb its shadow at noon-time at the vernal equinox? By what methods in the absence of hydraulic machinery were the gigantic stones lifted into their palaces at Karnak and Palnyra.? What caused the loss of the artistic knowledge which produced sum of the marvellous gold and leather work of the Azlex and lost the very knowledge of the location of the wonderfull ruined cities of central America ? *Surely any one who is a masonic seeker after truth must recognise* that the progress of mankind is really only in cer-

tain direction interlaced with retrogressions and decadence in others"

Mr. Gones Bousin—New age fot November 1921.

अर्थात् यदि मनुष्य जाति का इतिहास केवल उन्नति का इतिहास है तो क्यों चीनियों को ईसा से बहुत पूर्व बारूद तथा ध्रुवदर्शक यन्त्र का ज्ञान था और वे उसे क्यों भूल गये हैं? मुग़ल साम्राज्य के समय में इतनी सुन्दर इमारतें तथा क़बरें बनाने की कारीगरी का उन्हें कैसे ज्ञान था? मिश्र के लोगों को इतने आलीशान पिरामिड बनाने का तरीक़ा कैसे मालूम था? किन यन्त्रों के द्वारा वे पत्थरों को इतने ऊंचे लेजाते थे? हिन्दू जाति अब इतनी क्यों गिर गई है? यदि खोज की जाय तो हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि मनुष्य जाति ने कई बातों में उन्नति भी की है। परन्तु बहुत सी बातों में अवनति हुई है।"

उपर्युक्त उद्धारण से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि विकास का सिद्धान्त युक्तिसंगत नहीं है और इतिहास भी इस बात की पुष्टि नहीं करता। इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व हम इस बात पर भी प्रकाश डाल देना चाहते हैं कि प्राचीन काल की सभ्यता में सदाचार का बहुत ऊँचा स्थान था। इसी कारण से प्राचीन समय में लोगों को जो सुख और शान्ति प्राप्त थी वह आजकल सभ्यता के इस युग में किसी भी देश को प्राप्त नहीं है। स्वार्थ ने संसार में एक प्रकार का कलह

तथा अशान्ति पैदा करदी है। अधोलिखित उद्धरणों के पढ़ने से हम पूर्णतया इस परिणाम पर पहुँच जाते हैं कि वर्तमान समय में किसी भी दृष्टि से संसार को पूर्वापेक्षया उन्नत नहीं कहा जा सकता। रामायण में अयोध्या का वर्णन इस प्रकार से लिखा हैः—

तस्मिन्पुरवरे हृष्टा धर्मात्मानो बहुश्रुताः।
नरास्तुष्टा धनैः स्वैः स्वैरलुब्धाः सत्यवादिनः॥
नाल्पसन्निचयः कश्चिदासीत्तस्मिन्पुरोत्तमे।
कुटुम्बी यो ह्यसिद्धार्थोऽगवाश्वधनधान्यवान्॥
कामी वा न कदर्यो वा नृशंसः पुरुषः क्वचित्।
द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नाविद्वान्नच नास्तिकः॥
सर्वे नराश्च नार्यश्च धर्मशीलाः सुसंयताः।
मुदिताः शीलवृत्ताभ्यां महर्षय इवामलाः॥
नामृष्टभोजी नादाता नाप्यनङ्गदनिष्कधृक्।
नाहस्ताभरणो वापि दृश्यते नाप्यनात्मवान्॥
नानाहिताग्निर्नायज्वा न क्षुद्रो वा न तस्करः।
कश्चिदासीदयोध्यायां न च निर्वृत्तसंकरः॥

उपर्युक्त वर्णन से यह भी भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि रामायण काल में भौतिक तथा नैतिक उन्नति समकक्ष थी और प्रजा में अपूर्व शान्ति का साम्राज्य था। कई लोग शायद यह कहने का साहस करेंगे कि यह वर्णन काल्पनिक है। उन्हें आँख खोलकर विदेशीय यात्रियों द्वारा लिखित भारतीय

अवस्था का अध्ययन करना चाहिये। रामायण की बात तो दूर रही, मगध साम्राज्य के समय भी हमारे देश की नैतिक अवस्था अत्यन्त उन्नत तथा विकसित थी। मैगस्थनीज़ लिखता है :—

"The inhabitants having abundent means of subsistence excel in consequence the ordinary stature and are distinguished by their proud bearing. They are also found to be well-skilled in arts, as might be expected men who inhale pure air and drink the very finest water. All the Indians are free and not one of them is a slave,......They have no suits about pledges or deposits, nor do they require either seal or witness, but make their deposits and confide each other......Truth and virtue they hold alike in esteem.........

अर्थात् भारतीय डीलडौल में बड़े शानदार हैं। नाना प्रकार की कलाओं में प्रवीण हैं। मुक़द्दमों का रिवाज नहीं। एक दूसरे के विश्वास पर ही लेन देन का कार्य चलता है, सत्य तथा धर्म उनके जीवन का सिद्धान्त है।

कई विद्वानों का कथन है कि आत्मा मनुष्य के लिये धर्माधर्म विवेक का साधन बन सकती है परन्तु साधारण

मनुष्यों की बात तो दूर रही, बड़े २ विद्वानों की आत्मा भी कई दफ़ा कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय नहीं कर सकती। संसार का इतिहास इस बात का साक्षी है कि बड़े २ गम्भीर विद्वान् नेताओं ने कई दफा बड़ी २ भयानक भूलें की हैं जिनका परिणाम जातियों के क्रिये अत्यन्त हानिकारक सिद्ध हुआ है। मनुष्य की आत्मा पर परिस्थितियों का गहरा असर पड़ता है। एक निरामिषभोजी के गृह में पैदा हुए बच्चे को मांस से स्वाभाविक घृणा होती है और वह मांस खाना पाप समझता है, परन्तु एक मांसाहारी का बालक मांस खाने में पाप नहीं समझता। इसी प्रकार हिंसक, चोर, डाकू इत्यादि की आत्माएं इतनी कलुषित तथा मलिन हो जाती हैं कि उनको जघन्य से जघन्य पाप करने में भी संकोच नहीं होता इसलिये यह स्पष्ट है कि आत्मा धर्माधर्म के निर्णय के लिये अन्तिम निर्णायक नहीं हो सकता क्योंकि मनुष्य की आत्मा पर परिस्थितियों का गहरा प्रभाव होता है। प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता काण्ट ने एक स्थान पर लिखा है कि—

Feelings which naturally differ in degree, can not furnish a uniform standard of good and evil, nor has any one right to form judgments for others by his own feelings"

अर्थात् दूसरे के अनुभव के आधार पर धर्माधर्म का निर्णय नहीं किया जा सकता।

वेद का काल

वेद के काल के विषय में योरोपीय विद्वानों ने बहुत पक्षपात से काम लिया है और यहां उन्होंने वैदिक सभ्यता को बच्चों का खेल बताया है और वेदों को गडरियों का गीत लिखा है तथा वेद को जंगली लोगों का काव्य लिखा है। परन्तु प्रसन्नता की बात है कि अब पूर्व तथा पश्चिम के विद्वानों की वेद की तरफ़ रुचि हो रही है। और वर्तमान खोज वैदिक काल को बहुत पीछे ले गयी है। हमें निश्चय है कि ज्यों २ वेद के स्वाध्याय का प्रचार होगा, विद्वान् ऋषि दयानन्द के मत के सामने नतमस्तक होंगे। ब्रह्मा से लेकर ऋषि दयानन्द पर्यन्त सब ऋषियों का यह सिद्धान्त है कि वेद की उत्पत्ति को एक वृन्द छानवे करोड़, आठ लाख, बावन हज़ार, नौ सौ छहत्तर वर्ष हो गये हैं। ऋषि दयानन्द ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका में लिखते हैं कि "(प्र०) वेदों की उत्पत्ति में कितने वर्ष होगये ? (उ०) १९६०८५२९७६। इससे जो अध्यापक विलसन और मैक्समूलर आदि योरोप खण्डवासी विद्वानों ने बात कही है कि वेद मनुष्य के रचे हैं, किन्तु श्रुति नहीं है उनकी यह बात ठीक नहीं और दूसरी यह है कि कोई कहता है कि २४०० वर्ष वेदों की उत्पत्ति को हुए, कोई २९००, कोई ३००० और कोई कहता है कि ३१०० वर्ष वेदों को उत्पन्न हुए बीते हैं, उनकी यह भी बात झूठी है। क्योंकि उन लोगों ने हम आर्य लोगों की नित्यप्रति की दिनचर्या का लेख और संकल्प

पठन विधि को भी यथावत् न सुना और न विचारा है, नहीं तो इतने ही विचार से यह भ्रम उनको न होता इससे यह मानना अवश्य चाहिए कि वेदों की उत्पत्ति परमेश्वर से ही हुई है और जितने वर्ष अभी ऊपर गिन आये हैं उतने ही वर्ष वेदों की तथा जगत की उत्पत्ति में भी होचुके हैं"

क्या वेद में प्रक्षेप हुआ है ?

प्रो० मैक्समूलर कहते हैं कि—As far as we are able to judge at present we can hardly speak of various readings in the Vedic hymns in the usual sense of that world. Various readings to be gathered from a collection of different manuscripts now accessible to us there are none (Rig Veda Vol. I page XXVII).

अर्थात् वेदों की जितनी भी हस्त लिखित प्रतियां मिलती हैं। उनके आधार पर यह स्पष्ट है कि वेदों में प्रक्षेप नहीं हुआ प्रो० मैकडानल्ड कहते हैं कि—

"Extraordinary precautions soon began to be taken to guard the canonical text thus fixed against the possibility of any change or loss. The result has been its preservation with a faithfulness unique in literary history. (A history of Sanskrit liaerature P. 50.)

अर्थात् प्राचीन आर्यों ने वैदिक संहिता की रक्षा अत्यन्त सावधानी से की, इसीलिये वेद के मंत्रों में कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ। साहित्य के इतिहास में यह बात अपूर्व है।

वेद के विषय में पाश्चात्य विद्वानों की सम्मति

A. Wallace अपनी पुस्तक "Social Environment and Moral Progress में लिखते हैं कि:—

"If we make allowance for the very limited knowledge at this early period, we must admit that the mind which concieved and expressed in appropriate language such ideas as are every where apparent in the vedic hymns, could not have been in any way inferior to those of the best of our religious teachers and poets.

अर्थात् वेद के मन्त्रों में उच्च ज्ञान निहित है। वह हमारे समय के ऊंचे दर्जे के विद्वानों तथा कवियों के ज्ञान से किसी भी अवस्था में कम नहीं है। एडवर्ड कारपेन्टर 'Art of Creation' में लिखते हैं कि:—

A new philosophy we can hardly expect or wish for, since indeed the same germinal thoughts of the Vedic authors came all the way down history even to Scopenhour and

Witman, inspiring philosophy after philosophy and religion after religion and it is only to day that science with its huge conquests in the material plains is able to provide for these very old principles...somewhat of a new form and so wonderful a garment of illustrations and expression as it does."

अर्थात् संसार में कोई नया ज्ञान नहीं पैदा होता। वैदिक ऋषियों के विचार ही संसार में विकसित हो रहे हैं और वर्त्तमान काल में भी इन्हीं विचारों का रूपान्तर हो रहा है, न कि नवीन ज्ञान

M. Louis Jacolliot मि० जैकोलियट अपनी Bible in India, बाइबल इन इन्डिया, Ed, 1870 P. 10—12 में लिखते हैं कि:—

The Veda is the word of eternal wisdom, the principles of principles as revealed to our fathers—the pure primeval doctrine, the sublime iustructions."

अर्थात् वेद परमात्मा का ज्ञान है और इसमें सब विद्याओं के बीज विद्यमान हैं।

पादरी फिलिप अपनी पुस्तक Teaching of the veda के २३ पृष्ठ पर लिखते हैं कि:—

"The conclusion, therefore is inevitable that the development of religious thought in India, has been uniformally downward and not upward, deterioration and not evolution. We are justified, therefore in conducting (until contrary is proved) that the higher and purer conceptions of the Vedic Aryans were results of a primitive divine revelation.

अर्थात् हम अनिवार्य रूपेण इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि भारत में धार्मिक विचारों की उन्नति नहीं हो रही परन्तु अवनति हो रही है। हम निस्सन्देह इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि वेद ईश्वरीय ज्ञान का ही परिणाम है।

Religion of Modern India की भूमिका में सर चन्दावरकर लिखते हैं कि :—

"If India is to avoid the pitfalls of modern civilization and to save her growth in politics from its degradation, it must hitch itself to the cardinal principles of the spiritual life evolved from the Vedas."

अर्थात् यदि भारत अपने आपको वर्त्तमान सभ्यता की बुराइयों से बचाना चाहता है तो उसे वेद के आध्यात्मिक सिद्धान्तों का अनुसरण करना चाहिये।

प्रोफेसर मैक्समूलर The Rigveda Samhita Vol. I. Ed. 1869 preface P. X में लिखते हैं कि "The Veda, I feel convinced, will occupy scholars for centuries to come and will take and maintain its position for ever, as the most ancient of books in the library of mankind."

अर्थात् मैं इस बात को निश्चय से कह सकता हूँ कि वेद संसार के पुस्तकालय में सब से पुरानी पुस्तक है।

श्री अरविन्दघोष लिखते हैं कि:—

There is nothing fantastical in Dayananda's idea that Veda contains truths of science as well as truths of religion. I will add my own conviction that Veda contains other truths of science which the modern world does not possess at all. Immeditely the character of the Veda is fixed in the same Dayanand gave to it, the merely ritual mythological and polytheistic interpretation of Sayanacharya collapses and the merely naturalistic and materiological interpetation of Europeans also collapses. We have instead, one of the world's several books and the divine world of

lofty and noble religion.

अर्थात् स्वामी दयानन्द को इस धारणा में कि वेद धर्म और पदार्थ विद्या के भंडार हैं कोई अयुक्त वा अनहोनी बात नहीं है। मैं उनकी उक्त धारणा में अपना विश्वास और जोड़ना चाहता हूँ कि वेदों में पदार्थ विद्या की अन्य ऐसी सच्चाइयां भी हैं जिनको आजकल का संसार यत्किंचित् भी नहीं जान पाया है। एक बार वेदों की स्थिति स्वामी दयानन्द से अभिमतानुसार समासीन होजाने दो, तो फिर देखोगे कि सायणाचार्य का केवल रूढ़ि-परक और कपोलकल्पित सर्वेश्वर वाद पर आश्रित, वेदों के भाष्य का भवन अपने आप गिर जायेगा और उसी के साथ साथ पाश्चात्य विद्वानों का केवल भौतिक पदार्थ और प्राकृतिक पूजन-परक भाष्य भी धराशायी हो जायेगा और वेद एक उच्च गौरवास्पद ईश्वरीय ज्ञान पुस्तक के रूप में हमारे पास शोभायमान होगा।

इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि क्रमिक विकास का नियम युक्ति संगत नहीं। इतिहास भी इसके सत्य होने का प्रमाण नहीं देता। जातियों का इतिहास उत्थान तथा पतन का इतिहास है। इसलिये विकासवाद ईश्वरीयज्ञान की आवश्यकता के मार्ग में बाधक नहीं। सृष्टि के आदि में ज्ञान का आदि गुरु परमात्मा है। वह ज्ञान वेद ही है, क्योंकि अन्य सब धर्मों की अर्वाचीनता इतिहास से सिद्ध है।

तृतीय अध्याय

वेद में ईश्वर का स्वरूप

समस्त सृष्टि का संचालन नियमित रूप से करने वाला कोई एक सर्व शक्ति-सम्पन्न विशिष्टचेतन है या नहीं? यह अत्यन्त पुराना प्रश्न है और प्रारम्भ से ही इस विषय में विवाद चला आया है। यदि ईश्वर इन्द्रिय-ग्राह्य होता तब सम्भवतः उसके विषय में ऐसा विवाद न होता। क्योंकि साधारणतः प्रत्यक्ष विषय में विवाद नहीं होता। हां, अनुमेय पदार्थों में तो विवाद होता ही है। यही कारण है कि ईश्वरीय सत्ता बहुत बड़े विवाद का विषय है। साधारणतया अनीश्वर वादियों को दो दलों में विभक्त किया जा सकता है। एक दल ऐसे मनुष्यों का है जो कि एकमात्र प्रत्यक्ष प्रमाण के मानने वाले हैं। इसलिये वे ईश्वर को स्वभावतः स्वीकार नहीं कर सकते। दूसरे दल में ऐसे लोग हैं जो अनुमान को भी मानते हैं और अनुमेय पदार्थों की सत्ता भी स्वीकार करते हैं फिर भी ईश्वरीय सत्ता को मानने में असमर्थ हैं। पहले दल में अग्रणी चार्वाक हैं, और दूसरे में पाश्चात्य विद्वान्

हेकल इत्यादि। प्रत्यक्ष नहीं होने से उसकी सत्ता न मानने वालों के मत में सबसे बड़ा दोष यह है कि वे अपने वंश के मूल पुरुष या अपने से दस पांच पीढ़ी पूर्व के किसी पुरुष की सत्ता भी नहीं मान सकते। क्योंकि उस पुरुष को प्रत्यक्ष करने का कोई भी साधन नहीं है। वह तो केवल अनुमानगम्य है परन्तु प्रत्यक्ष न होने से ही उस पुरुष की सत्ता से इन्कार नहीं किया जा सकता। यदि कोई मूलपुरुष न था तो वह हज़रत जन्मे कहां से? इस तरह जो अपने ही पूर्वजों की सत्ता नहीं मान सकता वह विश्व के पूर्वज ईश्वर की सत्ता न माने तो आश्चर्य ही क्या। वर्तमान विज्ञान के कट्टर भक्त हेकल इत्यादि के ईथर (Ether) और कलल-रस (Protoplasm) को वस्तुगत्या अनुमेय पदार्थ ही समझना चाहिये। चुम्बक की आकर्षण-शक्ति दूरस्थ लोहे पर जब काम करती है तो चुम्बक से निकल कर लोहे में जाने के लिये बीच में उसका कोई आधार चाहिये, क्योंकि कोई शक्ति निराधार टिक नहीं सकती। बस यही आधार-द्रव्य वैज्ञानिकों का ईथर है। एक पदार्थ से दूसरे में विद्युत-शक्ति आदि के गमनागमन का आधार भी वही है। यद्यपि वैज्ञानिक उस ईथर को सर्वव्यापी, गतिशक्ति का अनन्त भण्डार और निष्क्रिय तथा अखण्ड मानते हैं, फिर भी उसका वास्तविक रूप क्या है? यह बात अभी तक विवाद-ग्रस्त है और उसकी सर्वव्यापकता आदि केवल अनुमान

सिद्ध ही है। इसी प्रकार कललरस (Protoplasm) की भी बात है। वैज्ञानिक इतना ही कह सकते हैं कि वह कारबन आक्सिजन, नाइट्रोजन और हाईड्रोजन के विलक्षण मेल से बना है, जिसमें जल गन्धक आदि का भी अंश है। परन्तु वह विलक्षण संयोग कैसा है, इसका उन्हें पता नहीं। नहीं तो अपनी प्रयोगशाला में उसी विलक्षण संमिश्रण के द्वारा कललरस बनाकर वे लोग भी सजीव सृष्टि कर लेते। अतएव उनकी यह कल्पना भी केवल अनुमान के बलपर ही आश्रित है। इस प्रकार केवल अनुमान के आधार पर लम्बी उड़ान भरने वाले वैज्ञानिक भी ईश्वर की सत्ता को नहीं मानते, यह कितने आश्चर्य का विषय है। यदि यह कहा जाये कि उनका अखण्ड एक रस ईथर, ईश्वर या ब्रह्म का ही रूपान्तर है और जैसे ईश्वरवादी उसकी शक्ति का ही परिणाम संसार को मानते हैं उसी प्रकार वैज्ञानिक भी उसी शक्ति का ही रूपान्तर द्रव्य मानते हैं। ऐसी विलक्षण समता के रहते हुए भी उन्हें ईश्वर में विवाद है? इसी तरह जब बालू से तेल नहीं पैदा होता तो फिर निर्जीव से सृष्टि के आरम्भ में या कभी भी हेकल का सजीव पदार्थ कैसे उत्पन्न होगा। यदि दो परस्पर विरोधी पदार्थों का कार्य कारण भाव माना जाये तो नीमके बीज से आम की, या सभी से सब की उत्पत्ति क्यों न मानी जाय। ऐसी बेसिरपैर की कल्पना करने वाले वैज्ञानिक यदि ईश्वर के मानने में संकोच करें तो यह कितने आश्चर्य का

विषय है । अतएव निराधार Protoplasm आदि की कल्पना के लिये भी हारकर उन्हें यह मानना पड़ेगा कि चेतना इस जगत् के प्रत्येक अणु में व्याप्त या ओत प्रोत है। और उन्हीं चेतनाविशिष्ट अणुओं के संमिश्रण से कललरस की प्रक्रिया द्वारा सजीव सृष्टि का विकास होता है। इस तरह सर्वत्र व्याप्त चेतन रूप ईश्वर को तो उन्होंने स्वीकार कर लिया, चाहे इस बात को स्पष्टतया वे न कहें।

अब हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि हम ईश्वर की सिद्धि किन प्रमाणों के आधार पर करें। उपनिषद्-कार लिखते हैं कि—

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य,
न चक्षुपा पश्यति कश्चनैनम्।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वं,
स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥

अर्थात् ईश्वर को कोई आंखों से देख नहीं सकता। परन्तु हममें से प्रत्येक मन को पवित्र कर विमल बुद्धि से ईश्वर को देख सकता है। हमारे सामने जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त बड़े २ चित्र विचित्र दृश्य दिखाई देते हैं जो हमारे मनों में इस बात के जानने की बड़ी उत्कण्ठा पैदा करते हैं कि वे कैसे उपजे हैं और कैसे विलीन होते हैं ? हम प्रति दिन देखते हैं कि प्रातः पौ फटते ही सहसा किरणों से विभूषित सूर्यमण्डल पूर्व दिशा में प्रकट होता है और आकाश मार्ग से विचरता,

सारे जगत् को प्रकाश, गर्मी और जीवन देता हुआ सायंकाल होने पर पश्चिम दिशा में पहुंचकर नेत्रपथ से परे हो जाता है। गणित शास्त्र वेत्ताओं ने गणना करके यह निश्चय किया है कि यह सूर्य पृथिवी से नौ करोड़ अट्ठाईस लाख तीस हज़ार मील की दूरी पर है। यह कितने आश्चर्य की बात है कि यह कितनी दूरी से इस पृथिवी के सब प्राणियों को प्रकाश, गर्मी और जीवन पहुँचाता है। ऋतु २ में पृथिवी से जल को खींच कर आकाश को लेजाता है और वहां से मेघ का रूप बनाकर फिर जल को पृथिवी पर बरसा देता है। गणित शास्त्र बतलाता है कि जैसा यह एक सूर्य है ऐसे असंख्य और हैं। और इससे बहुत बड़े २ भी हैं जो सूर्य से भी अधिक दूर होने के कारण हमको छोटे २ तारों के समान दिखाई देते हैं। सूर्य के अस्त होने पर प्रतिदिन हमको आकाश में अनगिनत तारे, नक्षत्र, ग्रह चमकते दिखाई देते हैं। सारे जगत् को अपनी किरणों से सुख देने वाला चन्द्रमा अपनी शीतल चांदनी से रात्रि को ज्योतिष्मती करता हुआ आकाश में सूर्य के समान पूर्व दिशा से पश्चिम दिशा को जाता है। ये सब तारा ग्रह सूत में बंधे हुए गोलकों के समान अलंघनीय नियमों के अनुसार दिन से दिन, महीने से महीने, वर्ष से वर्ष, बंधे हुए मार्गों में चलते हुए आकाश में घूमते दिखाई देते हैं। 'क्या यह प्रबन्ध' किसी विवेक शक्ति का रचा हुआ है जिसको स्थावर जङ्गम, सब प्राणियों को जन्म देना और

पालना अभीष्ट है अथवा यह केवल जड़ पदार्थों के अचानक संयोगमात्र का परिणाम है? क्या यह परम आश्चर्यमय गोलक मण्डल और जगत् अपने आप जड़ पदार्थों के एक दूसरे के खींचने के नियम मात्र से उत्पन्न हुआ है और अपने आप आकाश में वर्ष से वर्ष, सदी से सदी, युग से युग घूम रहा है अथवा इसके रचने और नियम से चलाने में किसी चैतन्य शक्ति का हाथ है? बुद्धि कहती है और वेद भी कहते हैं कि सूर्य, चन्द्रमा, आकाश और पृथिवी को परमात्मा ने रचा है।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्,
दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः।

इसी प्रकार हम देखते हैं कि प्राणात्मक जगत् की रचना इस बात की घोषणा करती है कि इस जगत् को रचने वाला एक ईश्वर है। यह चैतन्य जगत् अत्यन्त आश्चर्य से भरा-हुआ है। जरायुसे उत्पन्न होने वाले मनुष्य, सिंह, हाथी, घोड़े, गौ आदि, अण्डों से उत्पन्न होने वाले पक्षी, पसीने और मैलसे उत्पन्न होने वाले कीड़े, पृथिवी को फोड़ कर उगने वाले वृक्ष, इन सब की उत्पत्ति, रचना और इन का जीवन परम आश्चर्य-मय है। नर और नारी का समागम होता है। उस समागम में नर का एक अत्यन्त सूक्ष्म किन्तु चैतन्य अंश गर्भ में प्रवेश कर नारी के एक अत्यन्त सूक्ष्म सचेत अंश से मिल जाता है। विज्ञान वेत्ताओं ने अणुवीक्षण यन्त्र से देख कर यह बताया है कि मनुष्य के वीर्य के एक विन्दु में लाखों जीवाणु होते हैं,

उनमें से एक ही गर्भ में प्रवेश पाकर टिकता और वृद्धि पाता है। नारी के शरीर में ऐसा प्रबन्ध किया गया है कि यह जीव गर्भ में प्रवेश पाने के समय से एक नाली के द्वारा आहार पावे, इसकी वृद्धि के साथ-साथ नारी के गर्भ में एक जल से भरा थैला बनता जाता है जो गर्भ को चोट से बचाता है। इस सूक्ष्म से सूक्ष्म, अणु से अणु. बाल के आगे के भाग के दस-हज़ारवें भाग के समान सूक्ष्म वस्तु में यह शक्ति कहां से आती है कि जिससे यह धीरे २ अपने माता और पिता के समान रूप, रंग और सब अवयवों को धारण कर लेता है? कौनसी शक्ति है, जो गर्भ में इसका पालन करती और इसको बढ़ाती है? वह क्या अद्भुत रचना है जिससे बच्चे के उत्पन्न होने के समय माता के स्तनों में दूध आ जाता है?

इस आश्चर्यमयी शक्ति की खोज में हमारा ध्यान मनुष्य के रचे हुए एक घर की ओर जाता है। हम देखते हैं कि हमारे सामने एक घर बना हुआ है। इस में भीतर जाने के लिये एक बड़ा द्वार है। इसमें अनेक खिड़कियां तथा झरोखे हैं। भीतर बड़े २ खम्भे और दालान हैं। धूप और पानी के रोकने के लिये छतें और छज्जे बने हुए हैं। घर के भीतर से पानी निकालने के लिये नालियां बनी हुई हैं। ऐसे विचार से घर बनाया गया है कि रहने वालों को सब ऋतुओं में सुख देवे। इस घर को देख कर हम कहते हैं कि इसके रचने वाला कोई चतुर पुरुष था। हमने रचने वाले को भी नहीं देखा, तो भी हमको

निश्चय होता है कि घरका रचने वाला कोई था, या है और वह ज्ञानवान् विचारवान् पुरुष है।

अब हम अपने शरीर को देखते हैं। हमारे शरीर में भोजन करने के लिये मुँह बना है। चबाने के लिये दांत बने हैं। भोजन को पेट में पहुँचाने के लिये गले में नाली बनी है। उसी के पास पवन के मार्ग के लिये एक दूसरी नाली बनी हुई है। भोजन को रखने के लिये उदर में स्थान है। भोजन पच कर रुधिर का रूप धारण करता है। वह हृदय में जाकर इकट्ठा होता है और वहां से सिर से पैर तक सब नसों में पहुंच कर मनुष्य के संपूर्ण अंगों को शक्ति, सुख और शोभा पहुंचाता है। भोजन का जो अंश शरीर के लिये आवश्यक नहीं, उसके निकलने के लिये दूसरी नाली बनी हुई है। हम पूछते हैं कि क्या यह परम आश्चर्य मय रचना केवल जड़ पदार्थों के संयोग से हुई है, या इनके जन्म देने और वृद्धि में हमारे घर के रचयिता के समान किन्तु उससे अनन्त गुण अधिक किसी ज्ञानवान्, विवेकवान्, शक्तिमान् आत्मा का प्रभाव है?

हमारी बुद्धि विवश होकर इस बात को स्वीकार करती है कि ऐसी ज्ञानात्मिक रचना का कोई अनादि, सनातन, अज, अविनाशी, सत्‌चित्‌—आनन्द स्वरूप जगत् व्यापक अनन्त शक्ति संपन्न रचयिता है। उसी एक अनिर्वचनीय शक्ति को हम ईश्वर कहते हैं। प्राच्य दार्शनिकों ने भिन्न २ प्रकार से ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध किया है

न्यायदर्शन में:—

"ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्" ।

इस सूत्र के भाष्य में महर्षि वात्स्यायन कहते हैं कि "पराधीन पुरुषस्य कर्मफलाराधन मिति यदधीनं स ईश्वरः तस्मात् ईश्वरः कारणम्" जीवका पराधीन कर्म फल भोग जिसके आधीन है वह ईश्वर है। अतः ईश्वर ही जीव का कर्म फल दाता है। प्रसिद्ध न्यायवृत्तिकार विश्वनाथ जी ने उसी आह्निक के २१ वें सूत्र में "क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत्" अर्थात् इस प्रकार सूत्रवृत्ति द्वारा संसार की उत्पत्ति के प्रति ईश्वर की निमित्त कारणता प्रतिपादित की है अर्थात् घट की उत्पत्ति के लिये जिस प्रकार कुम्भकार निमित्त कारण है। उसी प्रकार जगत् की उत्पत्ति के लिये ईश्वर निमित्त कारण है।

योगदर्शन में—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ।

क्लेशकर्म वियाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषईश्वरः ।

तत्रनिरतिशयं सर्वज्ञवीजम् ।

सः पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।

तस्य वाचकः प्रणवः ।

तज्जपस्तदर्थभावनम् ।

इन सब सूत्रों में ईश्वर का योगदर्शनोक्त स्वरूप तथा उनका ध्यान उनके प्रति भक्ति और उनके दिव्यनामजप का

फल बताया गया है।

सांख्यदर्शन में—

योगिनामवाह्य प्रत्यक्षत्वान्नदोषः।

लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वाऽदोषः।

ईश्वरासिद्धेः।

मुक्तबद्धयोरन्यतराभावात्तत्सिद्धिः।

उभयथाप्यसत्करत्वम्।

मुक्तात्मनःप्रशंसा उपासासिद्धस्यवा।

इन्द्रियों की सहायता से लौकिक प्रत्यक्ष के अतिरिक्त योगी योग बल से जो अतीन्द्रिय वस्तुओं का प्रत्यक्ष करते हैं, उसका सांख्य ज्ञान भूमि में प्रयोजन न रहने पर भी ऐसे प्रत्यक्ष करने में कोई दोष नहीं है। योगिगण इस प्रकार अलौकिक प्रत्यक्ष शक्ति द्वारा अतीत, अनागत, सूक्ष्म, व्यवहित वस्तुओं का भी अनुभव कर लेते हैं। जैसा कि ईश्वर अतिसूक्ष्म तथा लौकिक प्रत्यक्ष के अगोचर और इसलिये सांख्य ज्ञान भूमि के अनुसार असिद्ध होने पर भी योगिगण अतीन्द्रिय अलौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा उसे जान लेते हैं। लौकिक विचार से सांख्य-भूमि में ईश्वर सिद्ध नहीं होते क्योंकि ईश्वर न तो मुक्त हो सकता है और न बद्ध। मुक्त होने पर उसमें अभिमानाभाव से सृष्टि कर्तृत्व नहीं आ सकेगा और बद्ध होने पर उसमें सृष्टि की शक्ति नहीं आ सकेगी। अतः लौकिक प्रत्यक्ष विचार से ईश्वर सिद्ध नहीं हो सकता।

इतना कह कर फिर सांख्य दर्शन कहता है कि यद्यपि लौकिक विचार से ईश्वर की सत्ता प्रमाणित नहीं होती परन्तु मुक्तात्मा पुरुषगण और उपासना के द्वारा सिद्ध-पुरुष गण बारम्बार शास्त्र में ईश्वर की स्तुति कर गये हैं। इस लिये ईश्वर के अस्तित्व के विषय में सन्देह नहीं करना चाहिये। अर्थात् लौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा ईश्वर असिद्ध होने पर भी मुक्तात्मा और सिद्ध पुरुषों की अलौकिक प्रत्यक्ष शक्ति के द्वारा सदा सिद्ध है। इसे ही आभ्यन्तरज्ञान (Intution) कहते हैं। जिसके बिना हैनरी बर्गसन (Henri Bargson) बर्ट्रण्ड रसेल (Bertrand Russel) और केसरलिन (Count Keyserting) जैसे आधुनिक महान् दार्शनिकों के मत में सत्य तत्व की प्राप्ति हो ही नहीं सकती। इसी आन्तरिक ज्ञान की सहायता से हम सृष्टि के अन्दर ईश्वर की सत्ता का अनुभव करते हैं। जिन लोगों को यह ज्ञान प्राप्त नहीं है उन लोगों के लिये ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार करना उतना ही सहज है जितना कि सूर्य के प्रकाश को चमगीदड़ का न मानना। किन्तु जिसकी दर्शन की शक्ति समाप्त हो चुकी है, उसने भी अब आन्तरिक ज्ञान की आवश्यकता को स्वीकार किया है और यह मान लिया है कि इसके बिना सत्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। परमात्म-सिद्धि का मुख्य आधार तर्क को न मानकर श्रद्धा या आन्तरिक ज्ञान को ही मानना चाहिये। महाकवि टैनीसन लिखता है :—

By faith and faith alone embrace,
Beleiving where, we can not prove,

अर्थात् हमें श्रद्धा का ही आश्रय लेना उचित है क्योंकि जिस विषय को हम तर्क से सिद्ध नहीं कर सकते वहां विश्वास के बिना गति नहीं। आधुनिक तर्क प्रधान युग में भी यह प्रश्न तर्क से सिद्ध नहीं हो सकता। इसी कवि ने एक अन्य स्थान पर लिखा हैं :—

I stretch lame hands of faith and grope,
And gather dust and chaff and call,
To what I feel is Lord of all.
And faintly trust the larger hope.

अर्थात् मैं श्रद्धा के लूले हाथों को फैला कर इधर उधर टटोलता और धूल तथा भूसा इकट्ठा करके उस परमात्मा को पुकारता हूं। मैं समझता हूं कि वह सबका प्रभु है और इस प्रकार उस महत्तर आशा में विश्वास रखता हूं चाहे वह विश्वास दृढ़ न हो। वेद में भी कहा है कि "श्रद्धया सत्य माप्यते"। इसी भाव को बाइबल में कहा है कि "we walk by faith, not by sight" इसी प्रकार वैशेषिक, मीमांसा तथा वेदान्त में भी सृष्टि-कर्तृत्व इत्यादि की युक्तियों से परमात्मा की सिद्धि की गई है। परन्तु जैसा कि हमने पहले लिखा है कि परमात्मसिद्धि की सबसे प्रबल युक्ति Intution या आभ्यन्तरिक ज्ञान है। जैसा कि उपनिषद् में लिखा

हैं कि वह अनिर्वचनीय है "स्वयं तदन्तः करणेन गृह्यते"—

वेदों में परमात्मा का स्वरूप वर्णन करने से पूर्व परमात्मा की सिद्धि में इतना लिखना इस लिये आवश्यक तथा अनिवार्य समझा गया कि आज इस बीसवीं सदी का रुख अनीश्वर वाद तथा नास्तिकता की ओर है। विज्ञान की उत्तरोत्तर उन्नति ने मनुष्य की आध्यात्मिक बुद्धि को कुन्द बना दिया है। इस लिये यह आवश्यक समझा गया कि पहले थोड़े से शब्दों में परमात्मा की सिद्धि कर दी जाय ताकि आजकल के शिक्षित समुदाय की प्रवृत्ति नास्तिकता की ओर से हट कर आस्तिकता की ओर प्रवृत्त हो। संक्षेप में अल्पज्ञता ही सर्वज्ञता का अनुमान लिंग है। अल्पज्ञ है इस लिये कोई सर्वज्ञ भी होना चाहिये। जगत् है इस लिये इसका रचयिता भी होना चाहिये। नियम्य है इस लिये कोई नियामक भी होना चाहिये। इस प्रकार जो कोई सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, जगत् का रचने वाला और उसका नियामक है वही ईश्वर कहलाता है।

वेद में ईश्वर का स्वरूप

वैदिक ईश्वर-वाद की सब से बड़ी विशेषता यह है कि वेद में ईश्वर को एक माना गया है। वेद में ऐसे सैंकड़ों मन्त्र उपलब्ध होते हैं जोकि निर्विवादरूप से परमात्मा की एकता (unity of God) के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने वेद का स्वाध्याय करते हुए वेदभाष्य की सम्यक् प्रणाली को न

वेद में एकेश्वर वाद

समझ कर वेद में बहु-देवता-वाद या हीन देवता-वाद की कल्पना की है, जो कि असंगत है। वेद का अर्थ करने के लिये यौगिक रीति का अवलम्बन करना चाहिए। वेद के शब्दों को रूढ़ि मान कर वेद के भाव को समझने का जो प्रयास करेगा वह वेद के अर्थों को जानने में हमेशा असफल रहेगा। वर्त्तमान युग के आचार्य ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में इस बात पर इस प्रकार से प्रकाश डाला है कि वेद में अग्नि इत्यादि नाम प्रकरणानुकूल परमात्मा के ही मानने चाहिए। और इन नामों का यौगिक अर्थ करके उससे परमात्मा का ही ग्रहण करना चाहिए। अपनी बात की पुष्टि के लिये उन्होंने परमात्मा के १०० नामों की व्युत्पत्ति भी की है। पाश्चात्य विद्वानों ने यह भूल की है कि अग्नि, वायु, प्रजापति को उन्होंने भिन्न भिन्न देवता मान कर वेदों में बहु-देवता-वाद समझ लिया है।

महर्षि लिखते हैं कि "अग्न्यादि नामों के मुख्य अर्थ से परमेश्वर ही का ग्रहण होता है। अग्नि आदि नामों से परमेश्वर के ग्रहण में प्रकरण और विशेषण नियम कारक हैं। इससे सिद्ध हुआ कि जहां २ स्तुति प्रार्थना, उपासना, सर्वज्ञ, व्यापक शुद्ध सनातन और सृष्टि-कर्ता आदि विशेषण लिखे हैं वहीं इननामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है" (सत्यार्थ-प्रकाश पृ० ५. ६)। वर्त्तमान काल का विचार भी महर्षि की इस युक्ति का पोषण करता है। बंगाल के प्रसिद्ध विद्वान ब्रजदासदत्त एम० ए० ने हाल में एक पुस्तक प्रका-

शित की है जिसका नाम "Rigveda unveiled" है। इसके पृ० १०५ पर वह लिखते हैं कि "What is Agni, who "says Kakshivans," is lighted for worship in every house " गृहं गृहं उपतिष्ठते अग्नि " ? Was the Vedic Rishi a fool that he should blindly pray to the dead visible fire or Agni, visible to all. that he himself lighted by the friction of two sticks,—that, he should pray to the fire that can neither hear nor see, saying, " पितेव सूनवेऽग्ने, सूपायनोभव। सचस्वा नः स्वस्तये॥ " ऋ० १-६॥ " Be Thou readily accessible to us like a father to his son, be Thou always with us that we may always attain what is good for us." Was it not God that he prayed to, God identified with the dead visible. Fire as the living spirit symbolised, is identified with its symbol by the law of association of ideas" अर्थात् अग्नि क्या है इसके सम्बन्ध में कक्षीवान् कहता है कि "अग्नि गृह २ में पूजा के निमित्त प्रदीप्त की जाती है " गृहं गृहं उपतिष्ठते अग्निः। वेद का ऋषि क्या मूर्ख था कि वह निर्जीव प्रत्यक्ष अग्नि की स्तुति करता। जिसे स्वयं दो अरणियों की रगड़ से उत्पन्न किया है जो कि न सुन सकती

है और न देख सकती है। क्या वह परमात्मा नहीं जिसकी कि पूजा ऋषि ने इन शब्दों में की हैं "। विद्वान् लेखक का भाव यही प्रतीत होता है कि वह इसे मानता है कि वेद में अग्नि आदि नामों द्वारा निर्जीव अग्नि आदि की पूजा नहीं है अपितु इन नामों द्वारा उसी की पूजा की है जो कि इन निर्जीव अग्नि आदि की आत्मा है, सर्वात्मा है। आगे चल कर पृ० १३० पर वह लिखते हैं कि :—

"How a word may deceive a Vedic student, and may be the mother of all kinds of legends, myths and superstitions, we will cite one example from the Rigveda. The word **'हस्ती'** to-day we all know, means an elephant. And in that sense we meet with the word **'हस्ती'** even in the Rigveda. Again we have in the Rigveda" **"अंशुं दुहन्ति हस्तिनः"** (3-36-7) of you took **'हस्तिनः'** here in the sense of elephants and interpreted it, " the elephants cut up the some creeper into small pieces, and extracted juice, you might accuse the Rishis of the wildest superstitions and pecurilities, such as believing elephants, like men, to have performed the soma sacrifice. More formidable

still,—the universal Food-giver (Indra or God himself, is each in the Rigveda a 'great elephant'- महाहस्तः "आ तू न इन्द्र क्षुमन्तं चित्रं ग्रभं संगृभाय महाहस्त दक्षिणेन" (ऋ० ८-८१-१) if you interpreted "महाहस्ती" as a great Elephant "O Thou great Elephant, do than take on thy powerful hand some thing most acceptable, most beutiful, something that would call-forth high prasies, forgiving to us," you might accuse the Rishis of beleiving the Elephant also to be an incarnatiou of God, and swell the number of Animal Avataras, by adding to the fish and the Tortoise Elephant also. But go back to the root meaning of हस्ती as one having a hand," the elephant is a हस्ती because of its hand like probosis, the priest is as हस्ती because of these human hand of his, and God "great handed," because He is Almighty.

अर्थात् किसी प्रकार एक शब्द वैदिक विद्यार्थी को धोखा दे सकता है और नाना कथा-कहानियों तथा भ्रमात्मक विचारों का कारण बन सकता है। इसका एक उदाहरण ऋग्वेद से उपस्थित किया जाता है। वर्तमान समय में 'हस्ती'

का अर्थ हाथी है यह सभी मानते हैं और इस अर्थ में 'हस्ती' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में भी हुआ है। ऋग्वेद में यह भी कहा है कि हस्ती सोम औषधि में से सोमरस निकालते हैं। यथा "अंशु दुहन्ति हस्तिनः"। यहां हस्ती का अर्थ यदि हाथी लिया जाये तो मानना पड़ेगा कि इस मन्त्र का ऋषि इस भ्रम में था कि हाथी भी सोमयाग करते हैं। 'हस्ती' शब्द को यौगिक मानने पर हस्ती का अर्थ होगा 'हाथवाले'। ऋत्विज् लोग, जो अर्थ कि सोमयाग के सम्बन्ध में बहुत उपपन्न दिखाई देता है। और देखिये, वेद में इन्द्र को महाहस्ती कहा गया है। यथा— 'आ तू स इन्द्रः' इत्यादि मन्त्र में महाहस्ती का अर्थ बड़ा हाथी किया जाये तो महान् अनर्थ होगा क्योंकि इससे यह बात सिद्ध होगी कि इस मन्त्र का ऋषि बड़े हाथी को भी देव का रूप मानता था। इस प्रकार पशु अवतार नाना मानने पड़ेंगे। अब हस्ती शब्द के यौगिक अर्थ की ओर चलिये। इसका यौगिक अर्थ है 'हाथवाला' हाथी हस्ती है क्योंकि इसकी सूंड होती है जो कि उसे हाथ का काम देती है। ऋत्विक् हस्ती है क्योंकि उसके हाथ होते हैं। इन्द्र अर्थात् देव या परमात्मा महाहस्ती है चूंकि वह सर्व शक्तिमान् है। आगे पृ० ६३१ पर वे लिखते हैं कि—

"It is on this Paronomasia" or 'श्लेषालंकार' in the Rig veda, that Swami Dayanand lays the greatest stress, for it was a necessary

condition of the Rishis very existence, and without realising it, you could not catch the Rishis true meaning."

अर्थात् इसी लिये स्वामी दयानन्द ने वेदों में श्लेषालंकार की सत्ता पर अधिक बल दिया है। क्योंकि बिना इस कथन का गौरव समझे ऋषि का वास्तविक अभिप्राय समझा नहीं जा सकता"।

उपर्युक्त से यह स्पष्ट है कि वेद के तात्पर्य को पश्चिमीय विद्वानों ने इसलिये नहीं समझा कि उन्हें वेदार्थ की सत्य रीति का ज्ञान नहीं है। वेद के शब्द यौगिक हैं और वेद में इन्द्रादि नाम एक ही परमात्मा के बोधक हैं न कि भिन्न २ देवताओं के। इसकी पुष्टि के लिये हम वेद के कुछ प्रमाण देना आवश्यक समझते हैं। वैसे तो वेद से एकेश्वरवाद सूचक सैंकड़ों मन्त्र उपस्थित किये जा सकते हैं परन्तु हम उदाहरणार्थ थोड़े से मन्त्र पेश करते हैं।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्नि माहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

ऋ० १-१६४-४६

(एकंसत) सत्य तत्त्व एक ही है परन्तु (विप्रा बहुधावदन्ति) ज्ञानी लोग उसका वर्णन अनेक रीति से करते हैं। उसी एक तत्त्व को इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्यसुपर्ण, गरुत्मान् यम और मातरिश्वा कहा जाता है। अर्थात् उसी एक आत्म

तत्त्व के ये अनेक नाम हैं। एक के अनेक नाम व्यवहारों में, भी होते हैं। एक ही मनुष्य पुत्र, पिता, भाई, पति, चचा मामा, भतीजा आदि नामों से पुकारा जाता है और यदि वह अधिकारी हुआ तो उसी को तहसीलदार, जज, दीवान आदि नामों से पुकारते हैं। व्यावहारिक सम्बन्ध से ये विविध नाम होने पर भी इन अनेक नामों से बोधित होने वाला मनुष्य एक ही होता है। इसी तरह अग्नि, इन्द्र, पूषा आदि अनेक नामों से सम्बोधित होने वाला एक ही ब्रह्म आत्मा अथवा ईश्वर है। नाम अनेक होने पर भी तत्व अनेक नहीं हैं। 'अग्नि इत्यादि सृष्टि के अन्तर्गत तत्वों की ही पूजा वेद में कही है' यह मत उपर्युक्त वेद मन्त्र द्वारा खण्डित हो जाता है और अग्नि इत्यादि अनेक नामों से एक ही आत्मा का बोध होता है यह बात सिद्ध हो जाती है।

(२) त्वमग्न इन्द्रो वृषभः—त्वं विष्णुः—त्वं ब्रह्मा—ब्रह्मणस्पते०॥ त्वमग्ने राजा वरुणः—त्वं मित्रः— त्वमर्यमा—त्वमंशः—त्वमग्ने त्वष्टः। त्वमग्ने रुद्रो असुरः ॥ त्वं भगः ॥ ऋ०२।१ मं०३-७

इन मन्त्रों में भी परमात्मा के लिये अग्नि, इन्द्र, वृषभ, विष्णु, ब्रह्मा, बृहस्पति, राजा, वरुण, मित्र, अर्यमा, अंश, त्वष्टा, रुद्र, असुर भग ये शब्द प्रयुक्त किये हैं।

युंजते मन उत युंजते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः विहोत्रा दधे वयुना विदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः—
ऋ० ५-८१-१।

(विपश्चितः) उस चित् स्वरूप (बृहतः विप्रस्य) महान् ज्ञानी के (मनसा) मन के साथ (विप्राः) संसार के ज्ञानी लोग (मनः युंजते) अपने मन को जोड़ते हैं (वयुनावित्) सब के ज्ञानों व कर्मों को जानने वाला (एक इद्) वह अकेला ही (होत्रा) इन सब के सत्कर्मों को (विदधे) विविध प्रकार से धारण करता है यह (सवितुः देवस्य) इस सर्व प्रेरक देव की (मही परिष्टुतिः) महान् प्रशंसा की बात देखो।

इसी प्रकार से अथर्व वेद कां० ४, सू० १६ के ६ मन्त्र, यजुर्वेद ३१–१८ ऋ० म० १० सू० १२१ मन्त्र १–१०, यजुर्वेद ३२–१ इस बात को निर्विवाद रूप से सिद्ध करते हैं कि परमात्मा एक है और वेद का सिद्धांत एक देवतावाद है न कि बहुदेवतावाद या हीन देवतावाद का। इस विषय में कई पाश्चात्य विद्वानों ने भी अपने आधुनिक अनुशीलन के आधार पर यह परिणाम निकाला है कि वेद में एकेश्वर वाद का सिद्धान्त निर्विवाद रूप से पाया जाता है। प्रो० मैक्समूलर तक को लिखना पड़ा कि I add only one more hymn (Rig. 10—121) in which the idea of one God is expressed with such power and decision, that it will make us hesitate before we deny to the Aryan nations an instinctive monotheism ?

(History of Sanskrit literature P. 568.)

अर्थात् इस सूक्त में एकेश्वरवाद का भाव इतने स्पष्ट और प्रबल रूप से प्रकट किया गया है कि हमें आर्यों के नैसर्गिक एकेश्वर वाद से इन्कार करते हुये संकोच करना पड़ेगा। ऋग्वेद का " य एक इत्तमुष्टुहि कृष्टीनां विचर्षणिः पतिर्जज्ञे वृषक्रतुः १-१०-१२१ तथा" य एक इद्धव्यश्चर्षणो नामिन्द्रं तंगीभिरभ्यर्च्य आभि:" इत्यादि सैंकड़ों वेदमन्त्र एकेश्वर पूजा के प्रतिपादक हैं। इस में तनिक भी सन्देह नहीं हो सकता।

जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक श्लीगल ने कहा है कि—

" It cannot be denied that the early Indians possessed a knowledge of the true God. All their writings are replete with sentiments and expressions, noble, clear, lovely and grand."

अर्थात् इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि प्राचीन भारतीयों को ईश्वर का सच्चा ज्ञान था। उनके इस विषयक लेख स्पष्ट, प्रेममय और उत्कृष्ट भावों से भरपूर हैं।

Count Byomstjeina ने लिखा है कि These truely sublime ideas cannot fail to convince us that the Vedas recognise only one God, who is Almighty, Infinite, Eternal self existent, the Light and Lord of the Universe.

अर्थात् वेदों के इन अत्यन्त उत्कृष्ट भावों से हमें यह दृढ़ विश्वास हुये बिना नहीं रह सकता कि वेद में एक परमात्मा का वर्णन है जो सर्वशक्तिमान्, नित्य, स्वयम्भू, जगत् का प्रकाशक तथा स्वामी है।

कोलब्रुक लिखते हैं कि "The ancient Hindu religion as founded on the scriptures recognized but one God? अर्थात् प्राचीन हिन्दू धर्म एकेश्वर वाद का प्रतिपादक था।

अनरैस्टवुड ने अपनी पुस्तक "An Englishman defends Mother India" में लिखा है कि "In the eyes of the Hindus there is but one supreme God. This was stated long ago in the Rig Veda in lhe following words, "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" अर्थात् हिन्दुओं की दृष्टि में एक ही परमेश्वर है। इस सच्चाई को ऋग्वेद में 'एकं रुद्रं विप्रा बहुधा वदन्ति' इत्यादि मन्त्रों द्वारा प्रगट किया गया है।

दूसरी विशेषता तीन अनादि सत्ताएँ

वैदिक ईश्वर वाद की दूसरी विशेषता यह है कि वेद में तीन अनादि (ईश्वर जीव तथा प्रकृति) की सत्ता मानी गई है। यदि हम अपने अपने साम्प्रदायिक राग-द्वेषों (prepossessions and prejudices) और स्वाभाविक पक्षपातों (Natural or unconscious partialities) को प्रयत्नपूर्वक अपने हृदय से हटा-

कर केवल सत्य के जिज्ञासु की हैसियत से शास्त्रों का अध्ययन करें तो हमें मालूम होगा कि शास्त्रों में परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति इन तीन अनादियों का वर्णन स्थान स्थान पर आता है। इन के स्वरूप में भेद अवश्य है परन्तु तीनों सत्तायें अनादि हैं। संसार में जड़ और चेतन वस्तुओं का परस्पर भेद अत्यन्त स्पष्टरूप से दिखाई देता है। ये दोनों परस्पर इतने विभिन्न गुणधर्म, स्वभाव वाले होते हैं कि इन्हें विरोधी भी कहा जा सकता है। सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण ने जड़ और चेतन के प्रतिनिधि प्रकृति और पुरुष के गुण धर्म लिखते हुये दोनों के पारस्परिक भेद को अच्छी तरह दिखाया है। वे लिखते हैं कि:—

त्रिगुणमविवेकी विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि
व्यक्तंतथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥

अर्थात् व्यक्त (महत् से पञ्चभूतपर्यन्त) तथा अव्यक्त (प्रकृति) सत्व रजस् तमस् रूपी तीन गुणवाले, अविवेकी, ग्राह्य, सामान्य अचेतन और प्रसवधर्मि होते हैं। पुरुष इससे विपरीत गुण वाला होता है। इसी प्रकार योगदर्शनकार ने भी द्रष्टा (चेतन पुरुष) और दृश्य की पृथक् सत्ता स्वीकार करते हुये द्रष्टा और दृश्य का इस प्रकार लक्षण किया है—

प्रकाश क्रियास्थिति शीलं भूतेन्द्रिययात्मकं
भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥ २ । १८ ॥
द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः २. २० ॥

वेद ने भी 'यः प्राणतो निमिषतो' इत्यादि मन्त्रों में जड़ तथा चेतन का पृथक् २ अस्तित्व माना है। चेतन के भी दो भेद हैं। ब्रह्म तथा आत्मा ब्रह्म या ईश्वर संसार का, और आत्मा शरीर का अधिष्ठाता है।

अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आपस्त्यानाम्
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्योमर्त्येनासयोनिः।

अथर्व. ९. १०. ८.

अपाङ् प्राङेति स्वधयागृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येनासयोनिः।
ताशश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यन्यं चिक्युर्न।

निचिक्युरन्यम् ९. १०. १६.

इन दोनों मन्त्रों में स्पष्ट तौर से शरीर और आत्मा को पृथक् माना है। इन दोनों के भेद को अधिक स्पष्ट करने के लिये जीव को अमर्त्य और शरीर को मर्त्य बताया है। प्रकृति भोग्य है और आत्मा भोक्ता है। भोग्य जगत् स्वयं विकसित नहीं हो सकता क्योंकि वह जड़ है और भोक्ता जीव अपने कर्म का स्वयं फलदाता नहीं हो हो सकता। इसलिये इनके अतिरिक्त एक चेतन सृष्टिकर्त्ता और जीवों के कर्मों के फल देनेवाले पुरुष विशेष के मानने की आवश्यकता है। और वही ईश्वर है। "यः ईशेऽस्य द्विपदश्चतुष्पदः"—'ऋतं चसत्यं' 'सपर्यगात्' इत्यादि मन्त्रों से उसी जगन्नियन्ता ईश्वर का वर्णन किया गया है। न्याय दर्शन में 'ईश्वरः कारणं कर्माफल्यदर्शनात्' ४. १. १९ का तात्पर्य यह है कि जीव प्रयत्न करता है किन्तु नियम

से प्रयत्न का फल उसको नहीं मिलता। इससे यह सिद्ध होता है कि जीव के कर्म का फल पराधीन है। जिसके आधीन भी जीवकृत कर्मफल है, वही ईश्वर है। इस प्रकार से वैदिकधर्म त्रैतवाद को मानता है जो कि शास्त्र-युक्ति तथा बुद्धि संगत है— यदि वेदान्तियों के पक्ष के अनुसार एक ही आत्मा मानली जाये तो यह प्रश्न पैदा होता है कि शास्त्र किसके उपकारार्थ उपदेश दे रहे हैं। आत्मा अविद्यादि क्लेशों से रहित यथार्थ ज्ञान युक्त है उसके लिये तो उपदेश की आवश्यकता ही नहीं। इसलिये सब शास्त्र तथा उपदेशादि निष्फल हैं। जब उपासक ही नहीं तो उपास्य की सत्ता को कैसे स्वीकार किया जा सकता है। उपास्य-उपासक तथा उपासना का भेद संसार में प्रत्यक्ष है। सोचने की बात यह है कि जिसने संसार को बनाया क्या वह स्वयमेव संसार बनसक्ता और क्या वही स्वयं धर्माधर्म का कर्त्ता और उनके फलस्वरूप सुख दुःख भोक्ता बन जाता है। अविकारी होकर विकार में आना, अपरिणामी होकर परिणाम में आना, व्यापक होकर एक देश में निवास करना इत्यादि बातों का वेदान्तियों के पास क्या उत्तर है। नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव परमात्मा का स्वयं बन्धन में आना उसकी अल्पज्ञता का द्योतक है। इसलिये यह बात किसी भी अवस्था में स्वीकार नहीं की जा सकती कि एक ही परमात्मा है और वही अविद्या के वश में होकर सृष्टि रूप धारण कर लेता है।

तीसरी विशेषता — वैदिक ईश्वरवाद का तीसरा सिद्धान्त यह है कि परमात्मा सर्वव्यापक है।

ईश्वर की सर्व व्यापकता — यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति, योनिलायंचरति यः प्रतङ्कम्। द्वौसंनिषद्य यन्मन्त्रयेते, राजा तद् वेद वरुणस्तृतीय।

अथर्व ४-१६ २

जो मनुष्य खड़ा है या चलता है और जो दूसरों को ठगता है, जो छिपकर कुछ करतूत करता है और जो दूसरों को भारी कष्ट आदि देकर अत्याचार करता है और जब दो आदमी मिलकर, एक साथ बैठकर जो कुछ गुप्त मंत्रणायें करते हैं उसे भी तीसरा होकर सर्व श्रेष्ठ सच्चा राजा परमेश्वर जानता है।

उतयो द्यामतिसर्पात् परस्तात्, न समुच्यातै वरुणस्य राज्ञः।
दिवः स्पशःप्रचरन्तीदमस्य, सहस्राक्षा अतिपश्यन्तिभूमिम्॥

अथर्व ४-१६-४।

जो भी कोई जीव द्युलोक को पार करके उससे भी पार चला जाये वह भी मुक्त नहीं हो सकता। प्रकाशस्वरूप इस वरुण के गुप्तचर इस ब्रह्माण्ड में अच्छी तरह घूम रहे हैं। जो हजारों आंखों वाले होकर इस भूमि को अति क्रमण करके देख रहे हैं। जिससे अन्य नहीं देख सकते उसे भी देख रहे हैं।

उतेयंभूमिर्वरुणस्यराज्ञः उतासौद्यौर्बृहती दूरे अन्तः।
उतो समुद्रो वरुणस्य कुक्षी उतास्मिन्नल्प उदके निलीनः ४ १६-३॥

यह भूमि भी वरुण राजा की है तथा वह बड़ा तथा दूरता और समीपता वाला द्यौलोक भी वरुण राजा का है। तथा ये दोनों समुद्र वरुण देव की कोखें हैं, और साथ ही वह इस पानी की क्षुद्र बूंद में भी छिपा हुआ है, अर्थात् व्याप्त है।

इन मन्त्रों में तथा इसी प्रकार के सैंकड़ों अन्य मन्त्रों में परमात्मा की सर्वव्यापकता का सिद्धान्त बड़े स्पष्ट शब्दों में घोषित किया गया है। यदि परमात्मा को सर्वव्यापक नहीं माना जाय तो वह कर्मफल द्रष्टा और शुभाशुभ का फलदाता नहीं होता। और जीव के समान ही परिच्छिन्न होने से वह जीव का अधिष्ठाता नहीं हो सकता। यहां पर प्रसङ्गवश हम अवतार-वाद के सिद्धान्त की तर्क के आधार पर आलोचना करना चाहते हैं और यह देखना चाहते हैं कि परमात्मा की सर्वव्यापकता का सिद्धान्त अवतारवाद की कल्पना के साथ संगत हो सकता है या नहीं।

विचार करने की बात है कि सर्वदा एक रस रहने वाली शक्ति का परिणाम में आना, निर्विकार का विकारी होना, सर्व व्यापक का एकदेशी होना, निराकार का आकार की उपाधि में आकर जन्ममरण के बंधन में फँसना, अतीन्द्रिय, तथा अव्यक्त पदार्थ का इन्द्रिय गोचर होना यह कैसे सम्भव हो सकता है। अवतार वाद की कल्पना वैदिक सिद्धान्त तथा वेद के भाव के सर्वथा प्रतिकूल है। पौराणिक सिद्धान्त का सार

यह है कि रामकृष्णादि का अवतार रावण तथा कंसादि पापियों के वध के लिये हुआ। परन्तु विचारने से पता लगता है कि किसी वस्तु को बिगाड़ना, बनाने से सरल है। कंस और रावण को परमात्मा ने अपने निराकार तथा अपरिवर्त्तन शील रूप में बना दिया परन्तु उन अत्याचारियों को उन के पाप का दण्ड देने के लिये उसको अवतार लेना पड़ा। परमेश्वर ने केवल मनुष्य का ही अवतार लिया हो ऐसी बात नहीं प्रत्युत मच्छ, कच्छ, वराहादि अनेक प्रकार के अवतारों का पुराणों में वर्णन आता है। जोकि सर्वथा असङ्गत प्रतीत होता है। अवतार के मानने से ईश्वर का ईश्वरत्व नष्ट हो जाता है।

इतनी महान् सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय के लिये तो परमात्मा को शरीर धारण करने की आवश्यकता नहीं होती, परन्तु कंसादि साधारण पुरुषों के वध के लिये परमात्मा को शरीर धारण करना पड़े यह विचार कितना अद्भुत तथा युक्तिशून्य है। जिस प्रकार समुद्र कूजे में नहीं आता, सागर गागर में नहीं समाता, और आकाश चटाई की तरह लपेटा नहीं जा सकता उसी प्रकार विश्वव्यापक शक्ति का एक देश में आना असम्भव है। यह सोचने की बात है कि जब परमात्मा का अवतार हुआ तो ब्रह्माण्ड-व्यापक समस्त शक्ति अवतार के रूप में परिवर्तित होगई, अथवा परमात्मा ने एक देश में अवतार लिया। यदि परमात्मा का समस्त रूप अवतरित हुआ तो परमात्मा परिणामी और विकारी सिद्ध

होगा और परमात्मा के अवतार लेने पर संसार के प्रबन्ध का Charge किसने लिया। और यदि परमात्मा का अंशावतार माना जाय तो यह दोष होगा कि परमात्मा अखण्ड नहीं रहेगा और वैदिक सिद्धान्त की हानि होगी।

कई लोग यह युक्ति देते हैं कि अग्नि समस्त पदार्थों में समान रूप से विद्यमान है। उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता परन्तु संघर्षण से प्रकट हो जाती है इसी प्रकार परमात्मा सर्वत्र व्यापक होता हुआ किसी विशेष अवस्था में अपने स्वरूप को प्रकट कर देता है। इसका नाम ही अवतार है। यह दृष्टान्त विषम है। अग्नि वायु और आकाश की अपेक्षा से स्थूल और इन्द्रिय ग्राह्य है। संघर्षण से उसकी उत्पत्ति होना संभव है। परन्तु परमेश्वर में सूक्ष्मता की पराकाष्ठा है। उसका स्थूल होना किसी प्रकार भी सम्भव नहीं।

चौथी विशेषता ईश्वर की शक्तिमत्ता

वैदिक ईश्वर वाद की चौथी विशेषता यह है कि इसमें परमात्मा को सर्व-शक्ति-मान माना है। सर्वशक्तिमान् का यह अर्थ नहीं कि परमेश्वर उचितानुचित, न्याय–अन्याय, पापपुण्य जो कुछ उसके विचार में आवे उसको कर डाले। जब राम सा विद्वान पुरुष भी अनुचित कार्य करने से भय करता है तो परमेश्वर ज्ञानस्वरूप न्याय स्वभाव होने से अयुक्त कार्य करनेवाला कभी नहीं हो सकता। सृष्टि उत्पत्ति, स्थिति तथा न्यायानुकूल जीवों

के कर्मफल प्रदान में उसको किसी अन्यकी सहायता अपेक्षित नहीं। इसीलिये वह सर्वशक्तिमान है। ऐसा असम्भव है कि परमात्मा शुभ करने वाले को दुख और अशुभ कर्म करने वाले को सुख दे सकता है। ऐसी अवस्था में वह न्याय कारी नहीं रहता। ऋषिदयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में बड़ी सुन्दर रीति से इस विषय का प्रतिपादन किया है। वे लिखते हैं कि "सर्वशक्तिमान शब्द का यही अर्थ है कि ईश्वर अपने काम अर्थात उत्पत्ति पालन, प्रलय आदि और जीवों के पुण्य पाप की यथायोग्य व्यवस्था करने में किंचित भी किसी की सहायता नहीं लेता। अर्थात् अपने अनन्त सामर्थ्य से ही सब अपना काम पूर्ण कर लेता है (प्रश्न) हमतो ऐसा मानते हैं कि ईश्वर चाहे सो करे, क्योंकि उसके ऊपर दूसरा कोई नहीं है। (उत्तर) वह क्या चाहता है जो तुम कहो कि सब कुछ चाहता और कर सकता है तो हम पूछते हैं कि परमेश्वर अपने को मार, अनेक ईश्वर बना स्वयं अविद्वान चोरी व्यभिचारादि पाप कर्म कर और दुखी भी हो सकता है? जैसे ये काम ईश्वर के गुण, कर्म स्वभाव से विरुद्ध हैं तो भी तुम्हारा कहना है कि वह सब कुछ कर सकता है यह कभी नहीं घट सकता।

वैदिक ईश्वर बाद की पांचवी विशेषता यह है कि इसमें परमात्मा को दयालु तथा न्यायकारी माना हैं।

विशां राजान मद्भुतमध्यक्षं धर्मणामिमम् ।
अग्निमीळे स उ श्रवत् । ऋ० ८. ४३. २४ ॥

अर्थात परमेश्वर ही सबका एक राजा और सब धर्म कार्यों का श्रेष्ठ अध्यक्ष है । अर्थात् यथाकर्म सब को फल देता है ।

यो मृडयति चक्रुषे चिदागो वयं स्याम वरुणे अनागाः ।
अनुव्रतान्यदिते ऋधन्तो यूयंपात स्वस्तिभिः सदा नः ।
ऋ. 6. 26. 6.

जो परमात्मा अपराधी पुरुषों को भी सुखी करता है उसके निकट हम सदैव निरपराधी होवें ।

पाँचवी विशेषता ईश्वर की दयालुता

वैदिक सिद्धान्त के अनुसार परमात्मा के दयालु होने के यह तात्पर्य कभी भी नहीं कि परमात्मा पापों को क्षमा कर देता है । परमात्मा के दयालु होने का यही भाव है कि परमात्मा ने संसार में नाना प्रकार के सुन्दर पदार्थों की रचना की है जिनके भोगने का अधिकार प्राणीमात्र को है। साथ ही मनुष्यजाति के कल्याण की कामना से उसने सृष्टि के आदि में वेद का उत्तम ज्ञान दिया है । ऋषि दयानन्द ने इस बात की मीमांसा-अत्यन्त सरल रीति से सत्यार्थ प्रकाश में इस प्रकार से की है । "न्याय और दया का नाम मात्र भेद है क्योंकि जो न्याय से प्रयोजन सिद्ध होता है वही दया से । दण्ड देने का प्रयोजन यह है कि मनुष्य अपराध करने से बन्द होकर दुःखों को प्राप्त न हो।

पराये दुःखों का छुड़ाना ही दया कहाता है। और जैसा अर्थ दया और न्याय का तुमने किया वह ठीक नहीं। क्योंकि जिसने जैसा जितना बुरा कर्म किया हो उसको वैसा ही दण्ड देना चाहिये उसी का नाम न्याय है। और जो अपराधी को दण्ड न दिया जाये तो दया का नाश हो जाय। क्योंकि एक अपराधी डाकू को छोड़ देने से सहस्त्रों धर्मात्मा पुरुषों को दुःख होता है। जब एक को छोड़ देने में सहस्त्रों मनुष्यों को दुःख प्राप्त होता है, वह दया किस प्रकार हो सकती है। दया वही है कि उस डाकू को कारागार में रख कर पाप करने से बचाना। इसी से डाकू पर और उस डाकू को मार देने से अन्य सहस्त्रों मनुष्यों पर दया प्रकाशित होती है। (प्रश्न) फिर दया और न्याय दो शब्द क्यों हुये। क्योंकि उन दोनों का अर्थ एक ही होता है तो दो शब्दों का होना व्यर्थ है (उत्तर) .... देखो ईश्वर की पूर्ण दया तो यह है कि उसने सब जीवों के प्रयोजन सिद्ध होने के अर्थ जगत् में सकल पदार्थ उत्पन्न करके दान दे रक्खे हैं। इससे भिन्न दूसरी बड़ी दया कौनसी है? अब न्याय का फल भी प्रत्यक्ष ही दीखता है कि सुख दुःख की व्यवस्था अधिकता और न्यूनता से फल को प्रकाशित कर रही है। इन दोनों का इतना ही भेद है कि जो मन में सबको सुख होने और दुःख छूटने की इच्छा और क्रिया करता है वह दया और बाह्यचेष्टा अर्थात् बन्धन छेदनादि यथावत् दण्ड देना न्याय कहाता है। दोनों का एक प्रयोजन यह है कि सबको पाप और

दुःखों से पृथक् कर देना" । भगवान् दया के असीम, अनन्त अथाह सागर हैं, वे जो कुछ भी करते हैं उसमें जीवों के प्रति दया भरी रहती है। इस का यह अर्थ नहीं है कि वे अन्याय करते हैं या उसकी दया लोगों को पाप करने में सहायक होती है, बात यह है कि उसका कानून ही ऐसा है जो लोगों को पाप से बचाता है और दण्ड या पुरस्कार रूपसे जो कुछ भी विधान करता है उसमें उसकी दया पूर्णरूपेण रहती है। सदाचार ओर सद्गुणों का सेवन हो ईश्वरीय कानून को मानना है। और दुराचार और दुर्गुणों का पालन ही उसका भङ्ग करना है। ईश्वर के कानून को मानने वाला पुरस्कार का पात्र होता है और तोड़ने वाला दण्ड का भागी होता है। सचमुच उसका दण्ड भी दया से ओतप्रोत है। सोचने की बात है कि भगवान के कानून में कितनी दया भरी है। अहिंसा के पालन से मनुष्य निर्वैर और निर्भय हो जाता है। सत्य के पालन से सत्य को प्राप्त होता है, चोरी न करने से विश्वासपात्र होता है, परित्याग से ज्ञान बढता है। इत्यादि। इन सदाचार के नियमों के पालन से लोक परलोक में कितना अपरिमित लाभ होता है यह ईश्वर के कानून की ही महिमा है। संसार में अनुकूल प्रतिकूल दो पदार्थ हैं। मनुष्य अपने अनुकूल पदार्थ की प्राप्ति में ईश्वर की दया समझता है। परन्तु ईश्वर का प्रत्येक नियम पापियों के पाप और दुःखियों के दुःख को नाश करने वाला है। जो मनुष्य ईश्वर को दयालु समझ कर

ईश्वरीय दया के भरोसे पर नये नये पापाचरण करता है वह अज्ञानी और मूर्ख है। आपत्तिकाल में आस्तिक पुरुषों को ईश्वर की स्मृति अधिक होती है। वे समझते हैं पाप के फल भोगने से पाप का बोझ कम होता जाता है, और हृदय की कालिमा दूर होती है और मनुष्य परमात्मा के अधिक समीप होता है।

सुख के माथे सिलपड़ो, जो नाम हृदय से जाय।
बलिहारी वा दुःख की, पल पल नाम जपाय ॥

इसलिये हमें परमात्मा के कानून का रहस्य समझना चाहिये और उसके अनुसार चलना चाहिये। दयामय ईश्वर के कानून के अनुसार चलने से हम समस्त पापों से मुक्त होकर उस परम पद को प्राप्त हो सकते हैं जो मनुष्य जीवन का सर्वोपरि प्रधान उद्देश्य है।

६वीं विशेषता ईश्वर का सच्चिदानन्द भाव — वैदिक ईश्वरवाद की छवीं विशेषता यह है कि इसमें परमात्मा को सच्चिदानन्दरूप माना गया है। वह सत्-चित् और आनन्द स्वरूप है। परमात्मा की सत्ता व्यापक है और उस सत्ता में ज्ञान और आनन्द स्वरूप के समान रूप में विद्यमान हैं। इसमें कदापि किसी काल में भी वृद्धि ह्रास नहीं होता। अतएव यह परमात्मा का स्वरूप लक्षण है। अर्थात् जिस रूप से जिस वस्तु का निरूपण किया जाय वह उसका स्वरूप लक्षण कहलाता है।

यदि केवल सत् चित् परमेश्वर का लक्षण करें तो यह

प्रकृति (परिणामी) और अल्पज्ञ चेतन का सहचारी होकर परमात्मा का तटस्थ लक्षण बन जाता है। आनन्द के समावेश ने व्यापक सत्ता और पूर्ण ज्ञान के विधान से इस को स्वरूप लक्षण बना दिया है। सत् प्रकृति, सच्चित जीवात्मा और सच्चिदानन्द परमात्मा है। सत् का अर्थ सत्तावान, चित् का अर्थ ज्ञानवान् और आनन्द का अर्थ आनन्द स्वरूप है। यदि 'सद् ब्रह्म' इतना ब्रह्म का लक्षण करते तो यह ब्रह्म में व्याप्त होकर प्रकृति में भी संगत हो जाता। यदि 'सत्चित्' यह ब्रह्म का लक्षण करते तो प्रकृति से व्यावृत्त होकर जीवात्मा में भी इसकी अनुवृत्ति होजाती। इसलिये आनन्द का समावेश करने से सत् प्रकृति और सच्चित् जीवात्मा से पृथक् होकर केवल ब्रह्म ही इसका लक्ष्य बनता है। इस प्रकार सच्चिदानन्द का अर्थ हुआ कि परमात्मा सत् है चित् अर्थात तीनों कालों में उसकी सत्ता अखण्ड, एकरस विद्यमान रहती है। चित् अर्थात् एक काल में यथार्थरूप से समस्त वस्तु का ज्ञाता है अर्थात् ज्ञान स्वरूप है। आनन्द अर्थात आनन्दमय और आनन्द का स्रोत है। बृहदारण्यक में लिखा है कि "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" यह आनन्दमयत्व जीव का गुण नहीं है। "रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति" यह बचन जीव और ईश्वर के भेद को स्पष्ट बता रहा है। परमेश्वर को असौ से निर्दिष्ट किया है और 'अयम्' शब्द से जीव का बोध होता है।

'रस' द्वितीयान्त और 'अयं' प्रथमान्त है। एक लब्धव्य और दूसरा लब्धा है। एक उपास्य और दूसरा उपासक है। मुक्त भी आनन्दी हो जाता है परन्तु आनन्द की जहां निरतिशयिता है वही परमेश्वर है। जीव का आनन्द वृद्धावस्था तथा मोक्षावस्था में ईश्वरीय आनन्द से हीन रहता है वेद के अधोलिखित मन्त्रों में यह भाव अत्यन्त स्पष्ट रीति से पाया जाता है।

कस्त्वा सत्यो मदानां मंहिष्ठो मत्सदन्स
द्रढ़ादाचिदारुजे वसु—ऋ० ४-३१-२.

हे ईश्वर तू (अन्धसः) अनादि भोगों के (मदानां) आनन्दों से भी (मँहिष्ठः) अधिक आनन्दकारक और (सत्यः) तीनों कालों में एक जैसा है। इसलिये (कः) कौन (त्वा) तुझे (मत्सद्) आनन्दित कर सकता है? तू (चित्) ज्ञानस्वरूप (द्रढ़ा) बलवान् (वसु) पृथिवी आदि पदार्थों को भी (आरुजे) छिन्न भिन्न करता है।

वैदिक ईश्वरवाद की सातवीं विशेषता यह है कि वेद परमात्मा को निराकार मानता है। निराकार होने के साथ ही परमात्मा इन्द्रियातीत है। जब जीवात्मा इन्द्रिय और मन के सम्बन्ध को त्यागकर एकाग्रवृत्ति से अन्तर्मुख हो जाता है तब परमात्मा का साक्षात्कार करता है। और जब मन का बाह्य विषयों से संसर्ग छूट जाता है। और वह स्थिर स्वभाव हो जाता है तो अपने स्वरूप को अनुभव में लाता है। अज्ञानी

पुरुष परमात्मा के यथार्थ स्वरूप को न जानकर बाह्य इन्द्रियों के द्वारा उसका साक्षात् करना चाहता है। इस प्रकार के विपरीत प्रयत्न से ज्ञान के स्थान पर भ्रम की वृद्धि ही होती है। परमात्मा के निराकार रूप का तत्व न समझ कर ही आज संसार में मूर्तिपूजा का प्रचार हुआ है। जो कि सर्वथा असंगत है। मूर्तिपूजा के समर्थक कहते हैं कि जब तक कोई लक्ष्य सामने न हो तब तक ध्यान नहीं लग सकता। परन्तु यहां उनकी भूल है। मूर्ति को सामने रखकर भी उनका ध्यान विषयक उद्देश्य पूरा नहीं होता। प्रतिमा को सामने रखकर भी ध्यान करेंगे तो उसके कारीगर का ही ध्यान आयेगा क्योंकि उसके साथ ही उसका सम्बन्ध है। इसी लिये तो लोग प्रश्न करते हैं कि यह मूर्ति बड़ी सुन्दर है। किसने बनाई है। वह पुरुष बड़ा बुद्धिमान् है जिसने इसको बनाया। इसलिये यह स्पष्ट है कोई भी मूर्ति ध्यान का साधन नहीं हो सकती। इससे विपरीत यदि मनुष्य प्रकृति के सौंदर्य का ध्यान करे तो अधिक लाभ होगा। यह समस्त संसार एक चित्र है इसका निर्माता परमात्मा अत्यन्त महान् और अद्भुत है। चित्र हमेशा मौनभाव से अपने चित्रकार की ओर संकेत करता है। इस संसार के देखने से मनुष्य को इसके बनाने वालों का ही ध्यान आता है परन्तु प्रतिमा पूजन से ध्यान नहीं होता है और न परमात्मा का ही पूजन होता है। भिन्न २ प्रतिमाओं के पूजन से उन्हीं रावण कंसादि के हनन कर्त्ता राम कृष्णादि का ध्यान (दुर्जन-

तोषन्याय से यदि माना जाये) आता है न कि जगन्नियन्ता, सर्वाधार, सर्वव्यापक, सच्चिदानन्द सर्वशक्तिमान् परमात्मा का इस प्रकार से प्रतिमा से स्थूल ध्यान भी नहीं हो सकता, सूक्ष्म ध्यान की तो बात ही क्या है। जब मनुष्य का अन्तःकरण सर्वथा वृत्तिशून्य होजाता है, उसको ध्यान कहते हैं। उस काल में एकाग्र वृत्ति द्वारा इन्द्रियातीत परमात्मा के ही दर्शन होते हैं। इस समय संसार की कोई भी वस्तु चित्त-वृत्ति की एकाग्रता का साधन नहीं बन सकती। एक मात्र परमात्मा ही जिस वृत्ति का विषय हो उसको एकाग्रवृत्ति कहते हैं। और जितने समय तक यह वृत्ति बन. रहे उसका नाम ध्यान है। इस प्रकार से दोनों प्रकार का ध्यान प्रतिमा पूजन से असिद्ध है।

दूसरी बात यह है कि रूप रहित होने से परमात्मा इन्द्रियों का विषय नहीं बन सकता। उपनिषदादि ग्रन्थों तथा वेदों में परमात्मा को 'नेति नेति' इसीलिये कहा है कि यह इन्द्रियों का विषय नहीं। मन भी परमात्मा के जानने में असमर्थ है। इसका साक्षात्कार तो केवल पवित्र आत्मा से ही होता है। जीवात्मा और आत्मा दोनों के बीच में कोई आवरण नहीं। ऐसी दशा में मूर्त्ति को ध्यान का साधन बनाना सर्वदा असंगत है।

तीसरी बात यह है कि स्थूलजगत् जड़ है। जड़वस्तु उपासना का विषय नहीं हो सकती। इसलिये जड़ की पूजा सर्वथा

अयुक्त है। विचारने की बात यह है कि परमात्मा की सत्ता का सद्भाव था तो मूर्त्ति बना कर ही उसमें पूज्य बुद्धि करना मिथ्या ज्ञान नहीं तो और क्या है ?

क्या यह मानना पड़ेगा कि परमेश्वररचित पाषाण काष्ठादि जब तक मनुष्य के हाथ की चोट खाकर किसी दूसरे रूप में न आजावें तबतक उसमें परमात्मा की सत्ता नहीं आ सकती। ऐसा मानने से परमेश्वर एकदेशी अथवा मनुष्य के हाथ का खिलौना हो जाता है। परमात्मा हमारे अन्दर है। वेदादि शास्त्र बलपूर्वक इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि यदि मनुष्य का अन्तःकरण मल-विक्षेप के आवरण से रहित हो जाये तो परमेश्वर की प्राप्ति का स्थान वही है अन्य नहीं। मूर्ति में परमात्मा पाने की अभिलाषा का तात्पर्य यही है कि अपने घर में विद्यमान वस्तु को घर में ही प्राप्त करने का यत्न न करके उसे बाहिर तलाश करना। इसे ही बाधितन्याय कहते हैं।

अब यह प्रश्न उठता है कि महापुरुषों के चित्र निर्माण क्या प्रतिमा-पूजन के अन्तर्गत नहीं होते ? नहीं, कदापि नहीं। महापुरुषों की मूर्ति या चित्र के सामने नैवेद्यादि फल पुष्पादि चढ़ाना तो भूल है परन्तु उनको देखकर उनके कारनामे याद करके अपने जीवन को उन्नत बनाने का यत्न करना, यही महापुरुषों के चित्र निर्माण का उपयोग है। उनके चित्रादि देखकर परमात्मा से यह प्रार्थना की जाती है कि भगवन्! हमारे देश में ऐसे ही महान् पुरुष उत्पन्न हों। झण्डाभिवादन में भी झण्डे

की पूजा नहीं की जाती परन्तु परमात्मा से प्रार्थना की जाती है कि हमारे देश पर जाति की स्वतन्त्रता सदा क़ायम रहे।

श्री शंकराचार्य कृत 'निर्गुण-मानस-पूजा' नामक पुस्तक में जो Works of Shri Shankaracharya, Vol. 18 श्रीरंगम् में प्रकाशित हुई हैं, निम्न लिखित श्लोक पाये जाते हैं; जिनमें कि मूर्त्ति-पूजा का स्पष्ट निषेध है—

पूर्णस्यावाहनं कुत्र, सर्वाधारस्य चासनम्।
स्वच्छस्य पाद्यमर्घ्यं च, शुद्धस्याचमनं कुतः॥
निर्मलस्य कुतः स्नानं वस्त्रं विश्वोदरस्य च।
निर्लेपस्य कुतोगन्धः, पुष्पं निर्वासनस्य च॥
निर्विशेषस्य का भूषा, कोऽलङ्कारो निराकृते।
नित्यतृप्तस्य नैवेद्यं, ताम्बूलं च कुतो विभोः॥
निरञ्जनस्य किं धूपैर्दीपैर्वा सर्वसाक्षिणः।
निजानन्दैकतृप्तस्य, नैवेद्यं किं भवेदिह॥
स्वयं प्रकाशमानस्य, कुतो नीराजनं विभोः।
अन्तर्बहिश्च पूर्णस्य, कथं निर्वासनं भवेत्॥
स्वयं प्रकाशचिद्रूपो, योऽसावर्कादिभासकः।
गीयते श्रुतिभिस्तस्य, नीराजनविधि कुतः॥
प्रदक्षिण मनन्तस्य, प्रमाणोऽद्वय वस्तुनः।
अन्तर्वहिसंस्थितस्य, उद्वासनविधि कुतः॥

वेद में परमात्मा को निराकार कहनेवाले मन्त्र सैंकड़ों हैं। उदाहरणार्थ कुछ एक मन्त्र नीचे दिये जाते हैं।

सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छा-
श्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ यजु० ४०।८॥

वह परमात्मा तेजस्वी, कारण, सूक्ष्म, एवं स्थूल शरीरों से रहित अविद्यादि दोषों से पृथक्, पापसंसर्ग से सदा अलिप्त सर्वज्ञ, अन्तर्यामी, दुष्टों का तिरस्कार करनेवाला, स्वसत्ता में परानपेक्ष, अनादि स्वरूप अर्थात् जिसकी संयोग से उत्पत्ति, विभाग से नाश, माता-पिता, गर्भवास जन्म, वृद्धि, ह्रास, मरण कभी नहीं होते, सर्वत्र व्यापक है। वह नित्य जीवरूप प्रजाओं को ठीक ठीक रीति से वेद द्वारा सब पदार्थों को देता है अथवा कर्म फल देता है।

इस प्रकार से इस अध्याय में हमने वेदोक्त परमात्मा के स्वरूप का दिग्दर्शन मात्र कराने का यत्न किया है। परमात्मा अनन्त है अतः उसका स्वरूप भी अनन्त है। मनुष्य की शक्ति से बाहिर है कि उसके रूप का वर्णन कर सके। तथापि ... योग्यतानुसार उसके स्वरूप का वर्णन किया गया है। आशा है कि पाठकगण उसके वैदिक तथा सत्यस्वरूप को समझ कर उस तक पहुँचने का यत्न करेंगे। उन्नीसवीं सदी के वेदों के अद्वितीय विद्वान् महर्षि १०८ श्री दयानन्द स्वामी ने परमात्मा के स्वरूप का इस प्रकार वर्णन किया है कि "ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्व-

व्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है। उसकी उपासना करनी योग्य है। एक कवि ने कितना सुन्दर कहा है कि—

असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे,
सुरवरतरुशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं,
तदपि तवगुणानामीश! पारं न याति॥

चतुर्थ अध्याय

वेद में स्त्रियों की स्थिति

इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेऽदिते सरस्वती महि विश्रुति ।
एता ते ऽघ्न्ये नामानि देवेभ्यो ना सुकृतम्ब्रूतात्॥ यजुर्वेद ८–४३ ॥

(इडे) स्तुति योग्य (रन्ते) रमणीय (हव्ये) स्वीकार करने योग्य (काम्ये) कमनीय (ज्योते) श्रेष्ठ शील से प्रकाशमान्। (चन्द्रे) चन्द्र के समान आह्लादकारिणी (अदिते) अविनाशिनि! अखण्डचरित्र (सरस्वति) विज्ञान से युक्त विदुषी (महि) पूजनीय (विश्रुति) विविध गुणों से प्रसिद्ध, विविध विद्याओं में कुशल (ऽघ्न्ये) तिरस्कार करने के अयोग्य (ते) तेरे (एता) ये (नामानि) नाम हैं तू (देवेभ्यः) उत्तम गुणों के लिये (मा) मुझको (सुकृतम्) उत्तम उपदेश (ब्रूतात्) किया कर। अर्थात् उपर्युक्त गुणों से युक्त स्त्री अपने पति तथा अन्य सब स्त्रियों को यथायोग्य उत्तम कर्म सिखलावे, जिससे किसी तरह वे अधर्म की ओर प्रवृत्त न होवे।

अनाधृष्टा ु रस्तादग्नेराधिपत्य आयुर्मे दाः ।
पुत्रवती दक्षिणत इन्द्रस्याऽधिपत्ये प्रजां मे दाः ।

सुषदा पश्चाद्देवस्य सवितुराधिपत्ये चक्षुर्मे दाः ।
आश्रुतिरुत्तरतो धातुराधिपत्ये रायस्पोषं मे दाः ।
विधृतिरुपरिष्टाद् बृहस्पते राधिपत्य ओजो मे दाः ।
विश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्पाहिमनोरश्वासि ॥ यजुर्वेद ३७।१२ ॥

हे स्त्री ! तू (अनाधृष्टा) किसी से भी तिरस्कृत न होकर (पुरस्तात्) पूर्व दिशा से (अग्नेः) अग्नि के (आधिपत्ये) स्वामित्व में रहकर अर्थात् जैसे अग्नि व सूर्य जीवनप्रद अन्न का प्रदान करनेवाले हैं, उसी प्रकार तू भी (मे) मुझ पति को (आयुः) जीवन के हेतु अन्न को (दाः) दे (दक्षिणतः) दक्षिण दिशा से (इन्द्रस्य आधिपत्ये) इन्द्र के आधिपत्य में (पुत्रवती) उत्तम पुत्रोंवाली होकर (मे) मेरे लिये (प्रजां) सन्तान (दाः) दे (सुषदा) सुख को देनेवाली (पश्चात्) पश्चिम से (देवस्य) प्रकाशमान (सवितुः) सूर्यमण्डल के आधिपत्य में (मे) मेरे लिये (चक्षुः) नेत्र (दाः) दे। (आश्रुतिः) विदुषी तू (उत्तरतः) उत्तर दिशा से (धातुः) धारणकर्त्ता वायु के (आधिपत्ये) आधिपत्य में (रायः पुष्टिः) धन-समृद्धि को (मे दाः) मुझे प्रदान कर (विधृतिः) विविध पदार्थों के धारण करने में समर्थ होकर तू (बृहस्पतेः) ज्ञान के आधिपत्य में (मे) मुझे (ओजः) बल-पराक्रम (दाः) दे। (मा) मुझको (विश्वाभ्यः) सब (नाष्ट्राभ्यः) दुष्ट प्रवृत्तियों से (पाहि) रक्षा कर। तू (मनोः) मननशील अन्तःकरण में (अश्वा) व्यापिका (असि) है। अर्थात् जैसे अग्नि जीवन को, विद्युत्

प्रजा को, सूर्य दर्शनशक्ति को देता है, उसी प्रकार सुलक्षणा पत्नी सब सुखों को देती है और अपने पति को अधर्माचरण से बचाती है।

मूर्द्धासि राड ध्रुवासि धरुण धर्त्र्यसि धरणी।
आयुषे त्वा वर्चसे त्वा कृष्यै क्षेमाय त्वा॥ यजुर्वेद १४।२१॥

हे स्त्री! तू (मूर्द्धासि) द्यौ वा सूर्य के समान सबसे उच्च शिरोभाग पर स्थित है (राट्) तू सूर्य के समान ही तेजस्विनी है (ध्रुवा) ध्रुव के समान निश्चल है (धरुणा) पुष्टि करनेवाली (धर्त्री) धारण करनेवाली (असि) है। (धरणी) भूमि के समान सब गृहस्थ का धारण करनेवाली है। उस (त्वा) तुझको (वर्चसे) तेज की वृद्धि के लिये (कृष्यै) उत्तम सन्तान की उत्पत्ति के लिये (क्षेमाय) कल्याण के लिये स्वीकार करता हूँ।

यन्त्री राड् यन्त्र्यासि यमनी ध्रुवासि धरित्री।
इषे त्वोर्जे त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा॥ यजुर्वेद १४-२२॥

हे स्त्री! तू (यन्त्री) समस्त गृहस्थ को नियम में रखनेवाली (राट्) तेज से प्रकाशमती (यन्त्री) नियमकारिणी (असि) है (तू) (यमनी) नियम व्यवस्थाकारिणी (असि) है (धरित्री) प्रजा को धारण करनेवाली (ध्रुवा असि) स्थिर है (त्वा) तुझे (इषे) सम्पदा की वृद्धि के लिये (त्वा) तुझ को (ऊर्जे) पराक्रम की प्राप्ति के लिये (त्वा) तुझको (रय्यै) ऐश्वर्य की वृद्धि के लिये (त्वा) तुझको (पोषाय) पुष्टि के

लिये मैं ग्रहण करता हूँ। अर्थात् जो स्त्री पृथिवी के समान क्षमायुक्त, आकाश के समान निश्चल होती है वह कुल का प्रकाश करनेवाली है।

सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शम्भूः ।
स्योना श्वश्र्वै प्रगृहान् विशेमान् ॥ अथर्ववेद १४-२-२६ ॥

हे वरानने! तू (सुमङ्गली) अच्छे मङ्गलाचरण करने (प्रतरणी) दोष तथा शोकादि से पृथक् करनेवाली (गृहाणां) गृहकार्यों में चतुर तथा तत्पर रहकर (सुशेवा) उत्तम सुख-युक्त होकर (पत्ये) पति (श्वशुराय) श्वसुर और (श्वश्र्वै) सास के लिये (शम्भूः) सुखकर्त्री और (स्योना) स्वयं प्रसन्न हुई (इमान्) इन (गृहान्) घरों में सुखपूर्वक (प्रविश) प्रवेश कर।

प्रबुध्यस्व सुबुधा बुध्यमाना दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ।
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु ॥
अथर्ववेद १४-२-७५॥

हे पत्नी! तू (शतशारदाय) शतवर्षपर्यन्त (दीर्घायुत्वाय) दीर्घकाल जीने के लिये (सुबुधा) उत्तम बुद्धियुक्त (बुध्यमाना) सज्ञान होकर (गृहान्) मेरे घरों को (गच्छ) प्राप्त हो और गृहपत्नी मुझे घर के स्वामी की स्त्री (यथा) जैसे (ते) तेरा (दीर्घम्) दीर्घकाल पर्यन्त (आयुः) जीवन (असः) होवे वैसे (प्रबुध्यस्व) प्रकृष्ट ज्ञान और उत्तम व्यवहार को यथावत् जान इस आशा को (सविता) परमात्मा (कृणोतु) अपनी इच्छ

से सिद्ध करे, जिससे तू और मैं सदा उन्नतिशील होकर आनन्द में रहें।

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितव्याश्च वहुकल्याणमीप्सुभिः॥
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्रदेवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥
शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा॥
जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः॥

मनु० अ० ३-५५-५८।

अर्थात् पिता, माता, भ्राता, पति और देवर को योग्य है कि अपनी कन्या, बहिन, स्त्री और भौजाई आदि स्त्रियों की सदा पूजा करें अर्थात् यथायोग्य मधुर भाषण, भोजन, वस्त्र, आभूषणादि से प्रसन्न रक्खें। जिन को कल्याण की इच्छा हो वह स्त्रियों को क्लेश कभी न दें। जिस कुल में नारियों की पूजा अर्थात् सत्कार होता है उस कुलमें दिव्यगुण, दिव्यभोग और उत्तम सन्तान होते हैं और जिस कुल में स्त्रियों की पूजा नहीं होती वहां जानो उनकी सब क्रिया निष्फल है। जिस कुल में स्त्रियां अपने अपने पुरुषों के वेश्यागमन वा व्यभिचारादि दोषों से शोकातुर रहती हैं वह कुल शीघ्र नाश को प्राप्त हो जाता है और जिस कुलमें स्त्री जन पुरुषों के उत्तमाचरणों से प्रसन्न रहती हैं वह कुल सर्वदा

बढ़ता रहता है। जिन कुलों और घरों में पूजित अर्थात् सत्कार को न प्राप्त होकर स्त्रियाँ जिन गृहस्थों को शाप देती हैं वे कुल तथा गृहस्थ जैसे विष देकर बहुतों को एक बार नाश कर देवें वैसे चारों ओर से नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं।

प्रजननार्थं महाभागाः पूजार्हाः गृहदीप्तयः।

स्त्रियश्च श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥ मनु० ९–२६।

सन्तानोत्पत्ति के लिये महाभाग्योदय करनेहारी, पूजाके योग्य, गृहाश्रम को प्रकाश करती, सन्तानोत्पत्ति करनेहारी, घरों में स्त्रियाँ हैं वे श्री अर्थात् लक्ष्मी स्वरूप होती हैं। क्योंकि लक्ष्मी शोभा और स्त्रियों में कुछ भेद नहीं है।

पुरुषो वै यज्ञः। अयज्ञो वै एष, यो अपत्नीकः।

अर्धो वै एष आत्मनो, यत् पत्नी ॥

तै० ब्रा० ३. ८. २३। (तै० ब्रा० ३. ३! ३. ३) (तै० सं० ६. १. ८।)

पुरुष निश्चय यज्ञ कर्म के लिये है। यह निश्चय यज्ञ कर्म के लिये है। यह निश्चय यज्ञ कर्म के अयोग्य है जो पत्नी से रहित है। क्योंकि पुरुष के शरीर का यह आधा भाग है जो

अर्धो ह वै एष आत्मनो, यत् जाया।

तस्माद् यावत् जायाँ न विन्दते नैव तावत् प्रजायते ॥

असर्वो हि तावद्भवति। शत० ५. २. १. १०

आधा भाग है, प्रसिद्ध निश्चय यह पुरुष का, जो स्त्री है। इसलिये मनुष्य जब तक स्त्री को नहीं पाता है, नहीं निश्चय

तब तक पुत्र वाला होता है। निःसन्देह अपूर्णा ही तब तक होत है।

यत्रएव पतिः, तत्रएव जाया।

जायापत्नी, गृहाः वै पत्न्यै प्रतिष्ठा ॥

तद्गृहेषु एव एनाम् एतत् प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति।

शत० १२. ८. २. ६. ३. २. १०।

जहां ही पति रहे, वहां ही स्त्री रहे। जो स्त्री है, वही पत्नी है। घर ही निश्चय पत्नी की प्रतिष्ठा का कारण है। इसलिये घरों में ही जो इसकी प्रतिष्ठा का कारण हैं, प्रतिष्ठा पूर्वक रखे।

पत्नी हि पारिणाह्यस्य ईशे—तै० सं० ६. २. १।

पत्नी निःसन्देह घरके पदार्थ मात्र की ईश्वरा अर्थात् स्वामिनी है।

स्त्री वै एषा यत् श्रीः। न तस्मात् स्त्रियं घ्नन्ति।

शत० ११. ४. ३. २

पत्नी निःसन्देह यह है, जो घर का ऐश्वर्य है। इसलिये घरके ऐश्वर्य की कामना वाले मनुष्य निश्चय किसी काल में भी स्त्री का अनादर नहीं करते।

वेदों, मनुस्मृति तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों के उपर्युक्त प्रमाणों से यह बात पूरी तरह से स्पष्ट हो जाती है कि वेद तथा वैदिक साहित्य में स्त्रियों की स्थिति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा उन्नत थी। यदि पाठक उपर्युक्त उद्धरणों पर गम्भीरता से विचार करेंगे, तो वे इसी परिणाम पर

पहुँचेंगे कि वैदिकधर्म में स्त्रियों की स्थिति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

क्या कन्याओं को वेदाध्ययन और यज्ञोपवीत का अधिकार है?

१—द्विविधाः स्त्रियः। ब्रह्मवादिन्यः सद्यो वध्वश्च तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनमग्नीन्धनं स्वगृहे भिक्षाचर्येति। सद्योवधूनामुपस्थिते विवाहे कथञ्चिदुपनयनंकृत्वा विवाहः कार्यः।

अर्थात् स्त्री दो प्रकार की होती है। ब्रह्मवादिनी और सद्यो वधूः। उनमें ब्रह्मवादिनी स्त्रियों का उपनयन यज्ञोपवीत अग्निहोत्र, वेदाध्ययन और अपने घरमें भिक्षाचर्या का विधान है। तथा सद्योवधुओं का विवाह समय उपस्थित होने पर उपनयन मात्र कराकर विवाह करना चाहिये।

२—पुरा कल्पेषु नारीणां मौञ्जीवन्धनमिष्यते।
अध्यापनं च वेदानां सावित्री वाचनं तथा॥ इति यमोक्तेः।

अर्थात् पुराकल्पों में स्त्रियों को मौंजी बान्धना, वेदों का पढ़ाना और गायत्री का उपदेश इष्ट था। यहां पर कल्प का अर्थ समय वाचक माना जाय तो पुरा शब्द के होने से 'इष्यते' यह वर्तमान काल का प्रयोग ठीक नहीं। क्योंकि 'परोक्षेलिट्' इस पाणिनि सूत्रानुसार भूत अनद्यतनपरोक्ष काल में लिट्लकार आना चाहिये। 'इष्यते' का अर्थ इष्ट होता है, न कि इष्ट था। इस लिये यहां कल्प शब्द का यह अर्थ करेंगे कि 'पूर्वविधिषु' अर्थात् अन्य वेदाध्यापन, सावित्री वाचन तथा विवाहादि विधि करने से पूर्व विधि में प्रथम स्त्रियों का मौञ्जीबन्धन (यज्ञोपवीत)

संस्कार इष्ट है। तत्पश्चात् वेदों का पढ़ाना और गायत्रीमन्त्र की जपादि विधि करनी चाहिये। इसके लिये प्रमाण "कल्पे विधिक्रमौ"। अमर १७-४०। अर्थात् कल्प, विधि, क्रम ये तीन नाम नियोग विधान शास्त्र के हैं। भगवान् मनु भी कहते हैं कि।

"नह्यस्मिन्युज्यते कर्म किञ्चिदामौञ्जिबन्धनात्"

मनु० २.१७१।

अर्थात् यज्ञोपवीत से पूर्व वेद का उच्चारण न करें। कल्प शब्द, विधि अर्थ में साहित्य में भी प्रयुक्त होता रहा है।

"तदनन्तरं भगवतैकादशे वर्षे क्षात्रेण कल्पेनोपनीय त्रयीविद्यामध्यापितौ। उत्तररामचरित।

अर्थात् भगवान् वाल्मीकि ने एकादश वर्ष होने पर क्षात्र कल्प विधि से उपनयन संस्कार कराकर दोनों लव तथा कुश को त्रयी विद्या पढ़ाई। यहां कल्प शब्द पर वीर राघव कृत यह टीका है।

कल्प्यतेऽनुष्ठीयतेऽनेनेति कल्प अनुष्ठानपरिपाटी प्रकाशक ग्रंथः।

यह प्रश्न उठता है कि जैसे बालकों के यज्ञोपवीत की विधि, अमुक वर्ण के बालक को अमुक वर्ण में मुण्डन और कौपीनादि कराकर यज्ञोपवीत की विधि है इसी प्रकार कन्याओं के लिये यज्ञोपवीत विधि का पृथक् विधान कहीं भी देखने में नहीं आता (उत्तर) जो विद्वान् लोग संस्कृत

भाषा और शास्त्रों में कुछ योग्यता रखते हैं वे अच्छी प्रकार समझते हैं कि शास्त्रकारों ने शास्त्रों के सामान्य विधान में जहां कहीं पुल्लिङ्ग निर्देश किया है वहां स्त्रियों का भी ग्रहण किया है। वैद्यक शास्त्र तथा Penal code में पुरुष निर्देश से प्रयोग होता है। तो क्या उस प्रकार का अपराध करने वाली स्त्री दण्डनीया नहीं हो सकती। जैसा कि 'यः कोऽपि विषं भुक्ते स म्रियते'। इस वाक्य में 'य' तथा 'सः' पुल्लिङ्ग हैं तो इससे क्या कोई स्त्री विष खायेगी तो नहीं मरेगी। He who will commit theft will be punished अर्थात् जो कोई चोरी करेगा वह दण्डभागी बनेगा। यहां भी He (वह) प्रयोग पुल्लिङ्ग है तो क्या चोरी करने वाली स्त्री दण्डनीय न होगी। इससे यह स्पष्ट है कि पुल्लिङ्ग वचन होते हुए भी स्त्रीलिङ्ग का भी ग्रहण होता है। मीमांसा दर्शन में जैमिनि लिखते हैं कि:—

जातिं तु वादरायणोऽविशेषत तस्मात् स्त्र्यपि
प्रतीयते जात्यर्थस्याविशिष्टत्वात्

अध्याय ६ पाद १ सूत्र ८

तु शब्द पूर्वशब्द की व्यावृत्ति के लिये है, अर्थात् व्यास मुनि का यह मन्तव्य है कि जाति अर्थ की समानता से स्त्री के भी मनुष्य जाति में होने से संस्कार पठन पाठन तथा यज्ञादिक कर्मों में स्त्री का भी ग्रहण-अधिकार हो सकता है। इस सूत्र पर शावराचार्य लिखते हैं,

जातिं तु वादरायणोऽधिकृतां मन्यते स्म। किन्तर्हि स्वर्गकाम

शब्देनोभावपि स्त्रीपुंसावधिक्रियेते इति । अतो न विवक्षितं पुल्लिङ्गमिति । कुतः । अविशेषात् स्वर्गकामो यस्य तमेष लक्षयति शब्दः, तेन लक्षणेनाधिकृतो यजेतेति शब्देन उच्यते । तत्र लक्षण-मविशिष्टं स्त्रियां पुंसि च। तस्माच्छब्देनोभावपि स्त्रीपुंसावधिकृता-विति गम्यते ।

अर्थात् व्यासदेव जाति को अधिकृत मानते हैं। इससे क्या ? स्वर्ग की कामना वाला यज्ञ करे यहां स्वर्ग काम शब्द से दोनों स्त्री पुरुष यज्ञादिक में अधिकारी होते हैं। इस लिये पुल्लिङ्ग विवक्षित नहीं है। क्यों ? अविशेष होने से । जिनकी स्वर्ग कामना हो उनको ही शब्द लक्ष कर रहा है। उस लक्षण से अधिकृत योग करे यह भाव शब्द से विवक्षित है। यहां स्त्री पुरुष दोनों में स्वर्ग कामना रूप लक्षण समान है। 'तस्मात्' इस शब्द से स्त्री पुरुष को यज्ञ में समान अधिकार है यह सुविदित है" ।

अन्य संस्कारों में भी पुल्लिङ्ग निर्देश किया है । परन्तु दोनों विवक्षित हैं ।

(१) प्राङ्नाभिवर्धनात् पुंसो जातकर्म विधीयते। मनु १-२९।

अर्थात् नाभि छेदन के पूर्व पुरुष का जात कर्म करे। यहां भी पुंसः से लड़का तथा लड़की दोनों का ग्रहण होता है।

(२) नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वास्य कारयेत् ।

(३) चतुर्थे मासे कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात्। षष्ठेऽन्नप्राशनम्।

यहां पर नाम-करण में 'अस्य' तथा निष्क्रमण और

अन्न प्राशन में 'शिशोः' शब्द पुल्लिङ्ग होने पर दोनों के लिये विवक्षित हैं। इसी प्रकारः—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनयनम्

गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः

इस श्लोक में भी पुरुषलिंग का निर्देश होते हुए भी कन्याओं के लिये भी समानरूप से यज्ञोपवीत का विधान है।

४—विवाह काल में पत्नी का स्वयं वेद मन्त्र पढ़ने का विधान है। श्रौतसूत्र में 'इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्। इस मन्त्र को पत्नी पढ़े। वेदं पत्न्यै प्रादाय वाचयेत्। पत्नी को वेद देकर पढ़वा ले। शांखायनकल्प में भी आचार्य लिखते हैं।

घृतवन्तं कुलायिनं रायस्पोषं सहस्रिणं वेदो दधातु वाजिनमिति वेदे पत्नी वाचयति ॥ शांखा० श्रौ० १. ५।

अर्थात् 'घृतवन्तं' आदि वेदमन्त्र वेद में से पत्नी को पढ़वावे।

४—ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।

अथर्ववेद ११. ७. १८।

अर्थात् कन्या ब्रह्मचर्य सेवन से युवावस्था सम्पन्न पति को प्राप्त होती है। ब्रह्मचर्य का अर्थ सायणाचार्य के शब्दों में—

ब्रह्म वेदः तदध्ययनार्थं आचार्य आचरणीयं समिदाधानभैक्ष-चर्योर्ध्वरेतस्कत्वदिकं ब्रह्मचारिभि रनष्ठीयमानं कर्म ब्रह्मचर्यम्।

अर्थात् ब्रह्म जो वेद उसके अध्ययन के लिये आचरण करने योग्य समिदाधान, भिक्षाचर्या तथा ऊर्ध्ववीर्यता आदि ब्रह्म-

चारियों से अनुष्ठान करने योग्य जो कर्म उसे ब्रह्मचर्य कहते हैं। ब्रह्मचर्य का यह अर्थ सायण ने ११. ७. १७ के भाष्य में किया है। तथा 'तत्र यद् ब्रह्म जन्मास्य मौञ्जीवन्धनचिन्हितम्' २, १७०।

अर्थात् यज्ञोपवीत से चिन्हित होना यह उसका ब्रह्म अर्थात् वेद में जन्म होना है। तात्पर्य यह है कि वेद पढ़ने के लिये यज्ञोपवीत धारण करना आवश्यक है।

५—वेद मंत्रों की द्रष्टा ऋषिकाएँ भी हुई हैं—

नाम	ऋग्वेद मण्डल	सूक्त	मंत्र
रोमशा	१	२६	७
लोपामुद्रा	१	१७९	१-६
विश्ववारा	५	२८	१-६
शश्वती	८	१	३८
अपाला	८	६१	१-७
यमी	१०	१०	१,३,५,७,१०,१३
घोषा	१०	३६,४०	१-१८
सूर्या	१०	८५	१-४७
इन्द्राणी	१०	८६	१-२३
उर्वशी	१०,	९५,	२,४,५,७,११,१३,१५,१६,१८
दक्षिणा	१०	१०७	१-११
सरमा	१०	१०८	२,४,६,८,१०,११
वाक्	१०	१२५	१-८
गोधा	१०	१३४	७
श्रद्धा	१०	१५१	१-५

७—यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्याꣳ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च।

इस ऋचा में तो स्पष्ट ही स्त्री को वेद पढ़ने का अधिकार दिया गया है।

८—प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीमभ्युदायन् जपेत् सोमोऽददद्गन्धर्वायेति गोभिलीयगृह्यसूत्र—प्र० २-का १ सूत्र १९।

उत्तरीय वस्त्रादि से आच्छादित तथा यज्ञोपवीत धारण की हुई कन्या को विवाह मण्डप में लावे।

९—पत्नी को यज्ञ में बैठने का भी स्पष्ट अधिकार है।

(१) पत्युर्नोयज्ञसंयोगे ॥ अष्टाध्यायी ४. १-३३

पतिशब्दस्य नकारादेशः स्याद्यज्ञेनसम्बन्धे।

अर्थात् पत्नी शब्द ही यज्ञ के सम्बन्ध का बोधक है। वेद में भी

सुपत्नी पत्या प्रजावत्या त्वागन् यज्ञः प्रतिकुम्भं गृभाय।

अथर्व० ११-१-१।

अर्थात् पति के साथ श्रेष्ठतमा पत्नी शोभनपुत्र और प्रजायुक्त होती है। ऐसी पत्नी को यज्ञ प्राप्त होता है।

(२) कामं गृह्येऽवग्नौ पत्नी जुहुतात्सायं प्रातर्होमौ, गृहाः पत्नी गृह्य एषोऽग्निर्भवतीति। गोभिल गृ० प्र० १ का, ३-१५,

इस पर भाष्यकार लिखता है कि:—

पत्नीमध्यापयेत्कस्मात्। पत्नीजुहुयादितिवचनात्। नखल्वनधीत्य शक्नोति पत्नीहोतुमिति ॥

अर्थात् पत्नी को वेदादि पढ़ाना चाहिये। क्योंकि पत्नी अग्निहोत्र करे यह विधान पाये जाने से बिना पढ़े पत्नी हवन यज्ञ करने के योग्य नहीं हो सकती।

(३) दम्पती एव—गोभि गृ० प्र० १का० ४ सू० १७।

इस पर भाष्यकार चन्द्रकान्त लिखते हैं कि:—

गृहपति स्तत्पत्नी तावुभौ दम्पती एव बलीन् हरयेतामिति सम्बध्यते। अर्थात् पति पत्नी दोनों बलि वैश्वदेवादि यज्ञ करें।

(४) मीमांसा दर्शन में:—

स्ववतोऽस्तु वचनादैककर्म्यं स्यात्। अ० ६-९-१७।

वचनात्तयोः सहक्रिया। एवं हिस्मरन्ति, धर्मे चार्थे च कामे च नातिचरितव्येति।...........तत्र यागोऽवश्यंसहपत्न्या कर्त्तव्य इति॥ (शाबर भाष्य)।

अर्थात् स्त्री पुरुष दोनों को, एक कर्म के बोधक वचन पाये जाने से दोनों का एक साथ कर्म करने का विधान है। धर्म, अर्थ, और काम में स्त्री को पृथक् नहीं करना चहिये। ऐसी स्मृति आज्ञा हैं। अतः अवश्य पत्नी के साथ यज्ञयागादि चाहिये।

पुनः—

फलवत्तां च दर्शयति॥ २१ मी० अ० ६। पा० १॥

संपत्नी पत्या सुकृतेन गच्छतां यज्ञस्य धुर्य्यंयुक्तावभूताम्। सञ्ज्ञानानौ विजहीताम्। अरातीर्दिवि ज्योतिरजरमारम्भेतामिति

दम्पत्योः फलं दर्शयति। तस्मादप्युभौ अधिकृताविति सिद्धम्॥

अर्थात् पति के साथ पत्नी सुकृत करती चले। दोनों यज्ञ के वाहक बन जायें। ये दोनों मिल कर आगे बढ़ते रहें। स्वर्ग में अविनाशी ज्योति का दोनों आरम्भ करें। इस प्रकार शास्त्र स्त्री पुरुष दोनों को एक साथ कर्म करने का अधिकार देता है।

१० शंकरदिग्विजय में लिखा है कि:—

तत्राधिकारमधिगच्छन्ति सद्वितीयः।
कृत्वाविवाहमिति वेदविदां प्रवादः॥ २-१४।

अर्थात् विवाह करके परिणीता पत्नी के साथ पुरुष को यज्ञादि कर्म में अधिकार प्राप्त होता है ऐसा वेद के जानने वालों का कथन है।

११ इतिहास भी इस बात की साक्षी देता है

(१) सर्वाणि शास्त्राणि षडंगवेदान्
काव्यादिकान् वेत्ति परं च सर्वम्।
तन्नास्ति नो वेत्ति यदत्र बाला
तस्मादभूच्चित्रपदं जनानाम्। शंकरदिग्विजय।

वह बाला उभय भारती न्याय, वैशेषिक, योग, सांख्य, पूर्वामीमांसा, वेदान्त तथा शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द ज्योतिष तथा चारों वेदों और काव्यादि ग्रन्थों में पारंगत थी। ऐसी कोई चीज़ न थी, जो कि उभया भारती न जानती हो।

२ ततः स्वस्त्ययनं कृत्वा मन्त्रविद्विजयैषिणी ।
अन्तः पुरं सहस्त्रीभिः प्रविष्टा शोकमोहिताः—स० १६-१२ ।

किष्किन्धाकाण्ड

विजय चाहने वाली और वेद मन्त्र को जानने वाली स्वस्ति-अयन करके स्त्रियों के साथ शोकार्त्त अन्तःपुर में दाखिल हुई ।

(३) सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यव्रतपरायणा ।
अग्निंजुहोति स्म मन्त्रवत् कृतमङ्गला ॥

अयोध्याकाण्ड २०-१५

अर्थात् कौशल्या मन्त्रों सहित अग्निहोत्र कर रही थी ।

(४) साहं तस्मिन्कुलेजाता भर्तर्यसति मद् विधे ।
विनीता मोक्षधर्मेषु चराम्येका मुनि व्रतम् ॥

महाभारत शान्तिपर्व ३२१-८३ ।

अर्थात् सुलभा राजा जनकके प्रश्न पर उत्तर देती है कि मैं प्रभावशाली क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुई हूं और गुरुओं से मैंने शिक्षा पाई है। ब्रह्मचर्य की समाप्ति पर योग्य पति न मिलने से मैंने नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का आश्रय लेकर सन्यासव्रत ग्रहण किया है ।

अस्मिन्नगस्त्यप्रमुखाः प्रदेशे
भूयांस उद्गीथविदो वसन्ति ।
तेभ्योऽधिगन्तुं निगमान्तविद्यां
वाल्मीकिपार्श्वादिह पर्यटामि ।

(५) उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः ॥
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते । मनु० २-१४० ।

जैसा आचार्य का लक्षण तथा कर्त्तव्य है उसी प्रकार पुल्लिङ्ग निर्देश जात्यविशेष से स्वयं व्याख्यात्री आचार्या को भी समझना चाहिये । 'आचार्या दणत्वं च' पर कौमुदीकार लिखता है कि आचार्य की पत्नी आचार्यानी कहलायेगी परन्तु स्वयं वेद विद्या पढ़ाने वाली व्याख्यात्री आचार्या कहलायेगी ।

कर्नल टाड ने एक स्थान पर लिखा है कि—
"It is universally admitted that there is no better criterion of the .rfinement of a nation than the condition of the fair sex theirin"

अर्थात् यह बात सर्व सम्मत है कि यदि किसी जाति की उन्नति तथा सभ्यता का अन्दाजा लगाना हो तो उस देश की स्त्रियों की स्थिति का अंदाज़ा लगा लिया जाये । उपर्युक्त उद्धरणों के अध्ययन से यह बात सर्वथा स्पष्ट होजाती है कि वैदिक काल में हमारे देश में स्त्रियों की स्थिति बहुत उन्नत थी । परिवार में उन्हें लक्ष्मी तथा मूर्धा समझा जाता था । समाज तथा राष्ट्र में उन्हें अत्यन्त सन्मान से देखा जाता था । संसार परिवर्तनशील है उसको कोई एक रस नहीं बना सकता । आज जो उन्नति के शिखर पर है, कल वही अवनति के गढ़े में पड़ा दिखाई देता है । हमारा देश दिन प्रति दिन परा-

धीन होता गया। भिन्न २ जातियों के सम्पर्क से समाज के नियमों में दूषणता तथा शिथिलता आती गई। इससे स्त्री समाज की दशा भी बिगड़ती गयी। मध्य काल में स्त्रियों की अवस्था अत्यन्त हीन हो गई। लोग वैदिक मार्ग से विमुख हो गये। जहां अन्य बातों में आर्यजाति गिरावट की तरफ गई वहां स्त्रियों के सम्बन्ध में प्राचीन गौरव तथा मान के भाव भी लुप्त होगये और आर्य जाति के सामूहिक पतन के साथ स्त्रियों का पतन हो गया। इसमें हमारे प्राचीन वेदों, शास्त्रों तथा ऋषियों का तनिक भी दोष नहीं है। आर्यजाति के उत्थान के लिये, भारतीय संस्कृति के पुनर्जीवन के लिये तथा स्त्री जाति के उद्धार के लिये १६ वीं सदी में भारत में एक ऋषि पैदा हुआ। इसने सर्वतोमुखी क्रान्ति करके स्त्रियों को देवी के प्रतिष्ठित पद पर बैठाया और उनके प्राचीन गौरव की रक्षा की। रङ्गअय्यर ने अपनी Father india नामक पुस्तक में लिखा है कि In the Nineteenth Century Rishi Dayanand came as a Massiah to preach the restroration of women to their ancient glory. अर्थात् १९ वीं सदी में स्त्रियों की पुरानी महत्ता तथा गौरव को कायम करने के लिये ऋषि दयानन्द ने मसीहा के रूप में जन्म लिया। आज संसार में सर्वतोमुखी जागृति के चिन्ह दृष्टिगोचर हो रहे हैं। सदियों से गुलामी की अवस्था में रहने से स्त्री जाति को नाना प्रकार के अत्याचारों को सहन करना पड़ा। अब जबकि सारे विश्व में

देवियों में जागृति के चिन्ह दिखाई दे रहे है; और प्राचीन गुलामी के विरुद्ध योरोप की देवियों ने घोर आन्दोलन शुरू कर दिया है उस अवस्था में भारतीय नारी भी इस सम्बन्ध में निष्क्रिय नहीं रह सकतीं। भारत में भी उसी प्रकार के जागृति के चिह्न दृष्टिगोचर हो रहे हैं। ऐसे परिवर्त्तन के समयों में प्रायः लाभ के स्थान पर हानियां उठानी पड़ती हैं और जातियां अपने उद्देश्य से बहुत दूर चली जाया करती हैं। स्वतन्त्रता के मद में भारतीय नारी भी योरोप की देवियों के सदृश अपने असली उद्देश्य से विचलित हो रही हैं। अब तो स्त्री जाति की अवस्था साँप छछुन्दर की तरह हो रही है। इधर गढ़ा तो उधर खाई। हमारी सम्मति में वर्त्तमान सर्वव्यापी आन्दोलन देवियों को गढ़े से निकाल कर खाई में गिरा देगा।

सहस्रों अत्याचार, अनाचार और प्रवञ्चनाओं के युद्ध करके आज पाश्चात्य स्त्रियों ने अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त की है और वे म्युनिसिपैलटी, सिनेट, अदालत तथा अन्यान्य स्थानों में प्रवेश करने लगी हैं। स्त्रियाँ आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त करने के लिये नानाप्रकार की नौकरियां करने लगी हैं। विवाह या वैवाहिक जीवन को गुलामी समझने लगी हैं। विवाह को बन्धन मान कर उसमें प्रविष्ट होने से सङ्कोच करने लगी हैं। तुर्किस्तान, सोवियत रशिया, टर्की इत्यादि देशों में नारीस्वातन्त्र्य का बीज बोया जा चुका है। सतीधर्म की सर्वत्र हीनता प्रतिपादित की जा रही है। सतीत्व को

गुलामी का कारण समझा जा रहा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन परिवर्त्तनों से थोड़े काल के लिये तो सम्भवतः ! देवियां प्रसन्न हों। परन्तु इसका परिणाम अन्ततो गत्वा अत्यन्त भयानक होगा। जिसको स्मरण करके हृदय काँप उठता है। इस आन्दोलन के भयङ्कर परिणामों का घातक परिणाम अब भी अमेरिका (यूरोप के अहम्मन्य सभ्यदेशों) में देखा जा सकता हैं। जहां तक इस आन्दोलन का सम्बन्ध, स्त्रियों में शिक्षा प्रचार, पर्दे का बहिष्कार करना, बहु विवाह की कुरीतियों को दूर करना, यथावसर देश की सेवा करने की योग्यता प्राप्त करना, उनको घर की दासी और भोगविलास का साधन न समझना, पशुओं के समान उनसे व्यवहार न करना, गृहस्थ कार्यों में उनकी सम्मति का मान होना, वेश्यालयों का सर्वथा उच्छेद इत्यादि बातों के साथ है वहां तक इस आन्दोलन के साथ हमारी पूर्ण सहानुभूति है। और इसके सफल करने में पुरुषों को भी पूर्णयत्न से देवियों को सहयोग देना चाहिये। परन्तु विवाह को बन्धन समझना, विवाह से पूर्व स्त्री पुरुष का सहवास, बालकों तथा कन्याओं का सहशिक्षण, आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र होने के लिये स्त्रियों का स्वयं नौकरी करना और बच्चों को, आया के सुपुर्द करना इत्यादि बातें मानव जाति के सुख तथा शान्ति को नष्ट करने वाली हैं। इन बातों का परिणाम सर्वथा भयङ्कर होगा। फ़ारस में, महिलाओं की एक समिति स्थापित हुई है जिसके पांच उद्देश्य हैं।

१—स्त्रियां स्वतन्त्र हों, उन में से पर्दा की प्रथा उठा दी जाये।
२—समाज, राजनीति और देश सेवामें उनका अधिकार स्थापित हो।
३—सोलह वर्ष से कम की कन्याओं का विवाह न हो।
४—देश से बहु विवाह सर्वथा उठ जाये।
५—पुरुष की ओर से तलाक के समय दहेज या स्त्री धन वसूल करने के लिये कुछ विशेष नियम बनाए जाँय।

इन उद्देश्यों से किसकी सहमति न होगी? हमारा यह निश्चित मत है कि (sex disqualification) लैङ्गिकअयोग्यता उड़ा देनी चाहिये। और केवल स्त्री होना ही किसी देवी के लिये सार्वजनिक जीवन में भाग लेने में बाधक न हो। परन्तु हम यह भी मानते हैं कि स्त्री का कार्य गृहस्थ का संचालन करना है न कि सार्वजनिक संस्थाओं में जाकर व्याख्यान देना। स्त्रियों को अधिकार होना चाहिये, उनमें योग्यता होनी चाहिये कि आवश्यकता पड़ने पर वे देश तथा धर्म की सेवा करने के लिये सुलभा तथा दुर्गा बन कर मैदान में आयें। परन्तु साधारणतया उनका यह कार्य नहीं। वेद में एक मन्त्र आया है

ममपुत्रः शत्रु हंशाः अथोमे दुहिताविराट्" ऋ० १०-१५९-३। कुदरत ने दोनों के स्वभावों तथा कार्यों में अत्यन्त भेद या विभिन्नता पैदा की है। सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने तथा युद्ध के मैदान में वीरता दिखाने के सैंकड़ों दृष्टान्त प्राचीन भारतीय इतिहास में उपलब्ध होते हैं। अधिकार तथा योग्यता

निर्विवाद है परन्तु ये अधिकार समय आने पर और अत्यन्त आवश्यकता पड़ने पर, भयानक सङ्कट के समयों में ही प्रयुक्त करने चाहिये। साधारणतया गृहस्थ का संचालन, बच्चों का पालन पोषण और उन्हें देश-भक्ति तथा धर्म की सेवा के लिये तय्यार करना अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य है। इनकी अव-हेलना नहीं की जा सकती। इस महान् कार्य का उत्तरदा-यित्व नौकरों को भी नहीं दिया जा सकता। यदि पति पत्नी दोनों आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र होने के लिये नौकरी पर चले जावें तो गृहस्थ तथा शिशुपालन का महत्वपूर्ण कार्य कौन करेगा। विवाह के समय, वर अपनी पत्नी से यह मन्त्र पढ़वाता है कि—

आरोहेममश्मानमश्मेव त्वंस्थिराभव।
अभितिष्ठ पृतन्यतोऽववाधस्व पृतनायतः ॥

हे स्त्री, तू इस पत्थर पर चढ़ जा और इस पत्थर के समान दृढ़ बन। जो कोई तेरा विरोध करे अथवा तुझ पर आक्रमण करे तू उसका सामना कर और उसको जीत ले। हमारे शास्त्र स्त्री को अबला नहीं बनाते परन्तु दुष्टों का दमन करने की शक्ति पैदा करने की आज्ञा भी देते हैं परन्तु उनका मुख्य कार्य गृहस्थ धर्म का संचालन ही है।

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यंत्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ॥

ऋ० १०-८५-३६।

अर्थात् ऐश्वर्य सुसन्तानादि सौभाग्य की वृद्धि तथा कर्त्तव्यानुसार गृहस्थाश्रम ही विवाह का मुख्य उद्देश्य है।

एमा अगुर्योषितः शुम्भमाना उत्तिष्ठनारि त्वंसंरभस्व।
सुपत्नी पत्या प्रजया प्रजावत्या त्वागन्यज्ञः प्रतिकुम्भंगृभाय॥
अथर्व० ११-१-१४

इस मन्त्र में स्त्री के कर्त्तव्य बतलाये गये हैं।

१—स्त्री सबसे प्रथम आलस्य छोड़ कर शारीरिक, मानसिक, आत्मिक बल प्राप्त करे।

२—पतिव्रता धर्म का उत्तम पालन करके उत्तम सन्तान उत्पन्न करे उनकी शरीर वृद्धि तथा आत्मा का बल बढ़ाने योग्य उत्तम शिक्षा द्वारा उनको उत्तम शिक्षित करके उत्तम सन्तान वाली बने।

३—अपने घर के कार्य स्वयं अच्छी तरह करके अपने घर को आदर्श गृह बनावे।

४—अन्य स्त्रियों को अपने घर बुलाकर स्त्रियों का मेल करके स्त्रियों की उन्नति करे।

इह प्रियं प्रजायै ते समृध्यतामस्मिन् गृहेगार्हपत्याय।
जागृहि एतापत्या तन्वं सं स्पृशस्वाथ जिर्विविदथ मावदासि
अ० १४-१-२१।

यहां स्त्री तथा उसकी संतति के लिये हित बढ़े। इस घर में घर की व्यवस्था के लिये सावधान रह। इस पति के साथ शरीर-सुख प्राप्त कर और ज्ञान-वृद्ध बन कर सभा में वक्तृत्व

कर अथवा कर्त्तव्योपदेश कर । अर्थात् स्त्री अपनी प्रजा के लिये तथा अपने पति आदि के हित के लिये प्रयत्न करे। घर की व्यवस्था उत्तम रखे तथा ज्ञान प्राप्त करके यशस्विनी बने।

आशासाना सौमनसं प्रजासौभाग्यं रयिम्।
पत्युरनुव्रता भूत्वा संनह्यस्वामृताय कम्। अ० १४-१-४२

अर्थात् स्त्री अपने मन को सदा प्रसन्न रखकर, संतान, ऐश्वर्य और धन की कामना करे, पति के अनुकूल सदा ही अपना आचरण रखे तथा अपने सुख साधन ऐसे करे कि जो अमरत्व अर्थात् मोक्षरूप स्वातन्त्र्य को प्राप्त कराने वाले हों और बंधन बढ़ाने वाले न हों।

स्योनाद्योनेरधि बुध्यमानौ हसामुदौ महसा मोदमानौ।
सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ तराथो जीवावुषसो विभातीः।
अ० १४-२-४३

(स्योनात् स्योनेः) सुख कारक घर में (अधिबुध्यमानौ) ज्ञान प्राप्त करते हुये (हसामुदौ) हास्य और आनन्द करते हुये (महसा मोदमानौ) प्रेम से परस्पर आनन्दित होकर (सु-गू) उत्तम चालचलन करने वाले (सु-पुत्रौ) उत्तम पुत्रों से युक्त होकर (सुगृहौ) उत्तम घर बनाकर (जीवौ) जीवन को सार्थक करने वाले होकर (विभातीः उषसः) तेजस्वी उषा-कालों को (तराथ) पारकरो।

इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि अपने २ कर्त्तव्य का

पालन प्रत्येक को करना चाहिये, तभी सुख तथा शान्ति प्राप्त हो सकती है। स्त्रियां अपने कार्य को पूरी तरह से निभायें। पुरुष अपना कार्य करें। एक दूसरे को दीन, तुच्छ या छोटा न समझते हुये पारस्परिक सहयोग से कार्य करने से सर्वदा सुख होगा। आज स्त्री तथा पुरुष में cooperation सहयोग न हो कर Competition प्रतियोगिता का भाव बढ़ रहा है। जिसका आवश्यक परिणाम यह होगा कि गृहस्थ की सरलता तथा मधुरता का सर्वथा नाश होकर मानवजाति में सङ्घर्ष तथा दुःख की वृद्धि होगी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत में वैदिक काल में स्त्रियों की जो अवस्था थी, उसमें अब बहुत परिवर्त्तन आ गया है। उन दिनों वे विद्या की प्रकाण्ड पण्डिता होती थीं उन्होंने समय पड़ने पर पुरुषों से शास्त्रार्थ भी किये। परन्तु आज स्त्रियों को जूती से उपमा दी जाती है। रामायण काल में स्त्रियों की दशा उन्नत तथा समाज में उनको अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखा जाता था। जिस समय सुग्रीव अपनी प्रतिज्ञा भुलाकर राज महलों में आराम कर रहे थे उस समय लक्ष्मण उनको उनकी प्रतिज्ञा याद दिलाने गये थे। क्रुद्ध लक्ष्मण को आते देख और अपना कल्याण न समझ कर सुग्रीव ने तारा को सामने कर दिया था।

त्वद्दर्शने विशुद्धात्मा नास्मत्कोपं करिष्यति।
नहिस्त्रीषुमहात्मानः क्वचित् कुर्वन्ति दारुणम्॥

अर्थात् तू सामने चली जा। तुझे देख कर लक्ष्मण का क्रोध शान्त हो जायेगा। क्योंकि आर्य-जन स्त्रियों पर कठोरता नहीं करते। भगवान् राम दुष्ट रावण से क्यों लड़ने गये? क्योंकि उस नरपिशाच ने सती सीता का अपहरण किया। आज यदि कोई हमारी बहिनों तथा माताओं को हरण करता है तो पतित हिन्दुसमाज उसका उद्धार करने की बजाय उस अबला को ही कोसता है। उसके चरित्र को हीन बतला कर उस असहाया निरपराधिनी को त्याग देता है।

महाभारत में भी भीम ने द्रौपदी के अपमान का बदला दुःशासन को मृत्यु दण्ड देकर लिया था। मुसलमानी शासन में भी सैंकड़ों उदाहरण मिलते हैं कि हिन्दु जाति ने स्त्रियों के अपमान का बदला हमेशा लिया। आज विद्या प्रचार का अभाव, दहेज की कुप्रथा इत्यादि कारणों ने स्त्रियों को अपने आदर्श से बहुत गिरा दिया है। हमारा कर्त्तव्य है कि उनका उद्धार करें। परन्तु यह स्पष्ट है कि पश्चिमीय नारी का अनुकरण भारतीय देवी के लिये किसी भी अवस्था में हितकर नहीं हो सकता। भारतीय देवी को प्राचीन भारतीय सभ्यता के ढङ्ग पर ही अभ्युदय तथा उन्नति का यत्न करना चाहिये। नहीं तो वे भी गढ़े से निकल कर खाई में गिरगी और उनका उत्थान सर्वथा असम्भव हो जायेगा।

प्रत्येक अनुकरण उस सीमा तक उपयोगी और ग्राह्य है, जहां तक वह हमारी आत्मा में आत्मसम्मान और स्वदेश के

प्रति अनुराग को उत्तेजना प्रदान करता है। जब अनुकरण हमें अपनी वस्तु से, अपने विचारों से, अपने आचारों से और अपनी भावनाओं से घृणा करना सिखलाता है; तब घातक बन जाता है। आज हमारी देवियों की अनुकरण प्रवृत्ति घातक रूप धारण करती जा रही है। दाम्पत्य जीवन में सरलता तथा मधुरता के स्थान पर कटुता आने लगी है। परिणामतः परिवार का जीवन महादुःखद और अस्त-व्यस्त सा हो रहा है। स्त्रियां गृहस्थ के दायित्व से मुक्त होने के लिये व्यग्र हैं। सन्तति निरोधक उपायों (contraceptives) पर बल दिया जारहा है। योरोप में भी इसका बड़ा भयानक परिणाम निकल रहा है। सदाचार का वहां दिवाला निकल चुका है। भोग विलास ही जीवन का लक्ष्य बन गया है। मा०जस्टिस लिण्डसे ने २५ वर्ष के अनुभव से 'Revolt of the Modern youth' नामक पुस्तक लिखी है। इसको पढ़कर अमरीका की स्त्रियों की वर्त्तमान दुर्गति पर खून के दो आंसू स्वयं निकल पड़ते हैं और यह कल्पना करके कि इसका क्या परिणाम होगा, हृदय काँप उठता है।

आज भारत में सह शिक्षण (Co-educatem)के प्रचार करने का यत्न किया जा रहा है। परन्तु अमरीका में इसका जो परिणाम निकला है वह अत्यन्त भयानक है। इन हाई स्कूलों के छात्र और छात्राओं के सबन्ध में पहिली बात यह है कि जितने युवक और युवतियां सहभोजों या नाचघरों में

भाग लेतीं हैं या साथ २ मोटरों में बैठकर सैर करती हैं, उनमें ९० प्रतिशत ऐसी होती हैं जो आलिङ्गन और चुम्बन का अनुभव करती हैं। जो लोग चुम्बन और आलिङ्गन आरम्भ कर देते हैं उनमें से कम से कम ५० प्रतिशत यहीं तक नहीं रह सकते। वे और आगे बढ़ते हैं और विषय-वासना सम्बन्धी दूसरे प्रकार की ऐसो स्वच्छन्दताएँ भी करने लगते हैं जो समस्त सभ्य समाजों में घोर अनुचित समझी जाती हैं"—आगे चल कर श्रीयुत लिण्डसे लिखते हैं कि "जहाँ एक युवती के विषय-भोग-सम्बन्धी अपराध का भण्डाफोड़ होता है, वहाँ बहुतसी पूर्णरूपेण छिपी रह जाती हैं, उदाहरणार्थ हाई स्कूल की ४६५ युवतियों ने मुझसे कहा था कि वे युवकों के साथ विषय-भोग कर चुकी हैं। पर उनमें से केवल २५ गर्भवती हुईं। दूसरी युवतियों ने गर्भ धारण नहीं किया। कुछ ने सौभाग्य से और कुछ ने कृत्रिम गर्भ-निरोध द्वारा गर्भ को रोक लिया।" इस प्रकार गर्भ-निरोध की क्रिया में युवतियाँ खूब पारङ्गत हैं। यह है अमेरिका में सहशिक्षण तथा वहां के विद्यार्थी-जीवन का काला चित्र। यदि भारतीय भी भारत में यह दशा लाना चाहते हैं तो दूसरी बात है। भारतीय सुधारक भी भारत में पाश्चात्य समाज के समान व्यभिचार लीला का अभिनय करना चाहते हैं। इसी लिये वे सन्तति निरोध (Birth Control) और विवाह-विच्छेद (Divorce) जैसी समाज-घातक बुराइयों को

अपना कर स्त्री स्वातन्त्र्य के नाम पर समाज में पाप फैलाना चाहते हैं। Faul Burean नामक फ्रेन्च लेखक अपने Towards Moral Bankrupcy (सदाचार का दिवाला) ग्रन्थ में, गर्भ-निरोध तथा विवाह-विच्छेद के फल-स्वरूप जो व्यभिचार और पापाचार फ्रान्स में हो रहा है, उसका वर्णन इस प्रकार करते हैं—

"यह निश्चय है कि विगत २५ वर्षों से गर्भ-निरोध के उपाय प्रयोग में अनवरत रूप से लाये जा रहे हैं, परन्तु फिर भी गर्भपात के अपराधों की संख्या कम नहीं हुई।" उनका विचार है कि फ्रांस में प्रति वर्ष पौने तीन लाख से सवा तीन लाख तक गर्भपात होते हैं।

वेद तो स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को स्थिर बतलाता है और विवाह-विच्छेद की आज्ञा नहीं देता।

इहैव स्तं मा वियोष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे॥ अ० १४-१-२२

अर्थात् स्त्री-पुरुष एक साथ रहें। कभी पृथक् न हों। अर्थात् विवाह-सम्बन्ध तोड़कर एक दूसरे का त्याग न करें। अपने घर में सुख अनुभव करने योग्य परिस्थिति बनाकर अपने बालबच्चों के साथ आनन्द से रहते हुए ही सम्पूर्ण आयु प्राप्त करके व आयु तक जीवित रहें। इस मन्त्र में 'स्तं' वियोष्टं, अ ाम्, क्रीड़न्तौ, मोदमानौ ये शब्द बल पूर्वक एक काल में एक पतिव्रत तथा एक पत्नीव्रत का आदेश

कर रहे हैं। अमरीका विवाह-विच्छेद की महामारी से अत्यन्त व्याकुल है। श्री लिण्डसे ने सन् १६२४ ई० में जो विवाह और विवाह विच्छेद हुए, उनकी एक तालिका दी है, जिसे पढ़कर आश्चर्य की सीमा नहीं रहती।

	विवाह	विवाह विच्छेद
एटलाणता	३३५०	१८४५
लासएनजेलस	१६६०५	७८८२
कनसासिटी	४८२१	२४००
ओहियो स्टेट	५३३०००	११८०५
डेनवेर	३०००	१५००

विवाह-विच्छेद तथा सन्तति-निरोध के समर्थकों का बड़े से बड़ा तर्क, अमेरिका और फ्रांस के इन पतित दृश्यों के सामने व्यर्थ सिद्ध होजाता है। यह स्मरण रखना चाहिये कि कृत्रिम गर्भ निरोध से न नारी का शारीरिक विकास होगा और न उसे अधिक सुख मिल सकेगा। हाँ इनमें काम शक्ति अवश्य प्रबल हो जायिगी। जो नारी मातृत्व का महान् आदर्श समाज के सामने प्रस्तुत करती है, जिस शक्ति द्वारा वह एक बालक को जन्म देकर बलिदान, त्याग, मधुरता

का उच्च आदर्श मानव-जाति के सामने रखती है वह कृत्रिम निरोध उपायों के अवलम्बन करने से सम्भोग शक्ति और कामदेव क तृप्ति में व्यय होगा। हम स्त्री-जाति के सुधार के विरोधी नहीं जैसा कि हमारे उपर्युक्त विचारों के पढ़ने से पाठकों को ज्ञात होगा। परन्तु हम चाहते हैं कि भारतीय नारीत्व का विकास और उत्कर्ष अपनी संस्कृति के प्रकाश में ही मातृत्व नारी का महान् लक्ष्य हो। इसमें बलिदान, त्याग, परोपकार, प्रेम, वात्सल्य इत्यादि मधुर भावनाओं का प्रकाश हो। इसी मातृत्व की रक्षा में, इसके विकास तथा उत्कर्ष में ही नारी जीवन की सार्थकता है। निःसंदेह पर्दा बुरा है। इससे देवियों को तपदिक् इत्यादि नाना प्रकार की प्राणघातक बीमारियों का शिकार होना पड़ता है। यह स्वास्थ्य के लिये भी अत्यन्त घातक है। विवाह समय वर यह मन्त्र पढ़ता है—

सुमंगलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वा यथास्तं विपरेतन॥ ऋ० १०-८५-३३।

अर्थात् यह वधू मङ्गलकारिणी है। तुम सब इसका दर्शन करो और इसे सौभाग्यादि के आशीर्वाद देकर अपने अपने घर को जाओ। इस मन्त्र में पर्दे का स्पष्ट निषेध है। परन्तु पर्दे की कुरीति को दूर करने का यह तात्पर्य नहीं कि घर से पति का बिलकुल बहिष्कार करा दिया जाये और उसकी पत्नी अपने मित्रों से स्वच्छन्द होकर मिले, चाहे उसके मित्र पति

के मन के कितने ही प्रतिकूल हों। Extremes are always dangerous 'अतिसर्वत्र वर्जयेत्' बहुत स्वतन्त्रता से घर में पति की उपेक्षा तथा अनादर होता है और गार्हस्थ्य-सुख दुःख में परिणत हो जाता है। एक लेखक ने वर्तमान अवस्था का चित्र इन शब्दों में चित्रित किया है—

Men are not by ettiquette allowed to peep or pry into the room where the wise freely mixes with her friends and associates, be they men or women. It is a serious breach of decorum or deceney if the unlucky husband involuntarily tears open the cover of a letter addressed to his wife and reads its contents.—In a ball or a comedy dances in the billiard room or the race cource, at the opera or the cinema, ping pong or twing twang women have the absolute liberty to discarde their husbands and choose as their partner whomsoever they take a liking to. As a natural result, flirting has become a national vice and poor husbands find themselves unable to cope with the evil. The sanctity of marriage is done away with and

the doctrine of free love has taken its place. Matrimony is considered as a civil contract which can be broken at any time.

अर्थात् जिस कमरे में पत्नी अपने मित्रों के साथ बैठी गपशप लगा रही हो। पति का उस कमरे में झाँकना या आना सभ्यता के विरुद्ध माना जाता है। नाचों, सिनेमाघरों तथा अन्य खेलों में अपने पति की सर्वथा उपेक्षा करके पत्नी जिसको चाहे अपना साथी बना सकती है। परिणाम-स्वरूप फलर्टिङ्ग जातीय बुराई बन गई है और ग़रीब पति इस बुराई का सामना करने में असमर्थ हो गये हैं। विवाह की पवित्रता नष्ट हो गई है और विवाह को सामाजिक समझौता समझा जाने लगा हैं और ऐसे विवाह के सम्बन्ध का कभी भी स्वेच्छा से विच्छेद किया जासकता हैं। इतना होने पर भी तथा Trial marriage के प्रचलित होने पर भी तलाक़ों की संख्या बढ़ती जारही है जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है। वही लेखक आगे चल कर लिखता है कि—

All the business of the world will suffer and mercantile transactions will come to a standstill if no binding force is given by law to our words and promises.

इस प्रकार हम देखते हैं कि पर्दे की कुरीति के दूर करने का यह तात्पर्य कभी भी नहीं हो सकता कि स्त्रियों

को इतनी स्वतन्त्रता दी जाये जिससे कि घर ही दुखी बन जाये। हम भारतवर्ष में गार्गी, लीलावती, सुलभा जैसी विदुषियाँ तथा सीता, सावित्री सी पतिव्रता देवियाँ पैदा करना चाहते हैं। इन्हीं से भारतवर्ष का गौरव है। वर्त्तमान पाश्चात्य सभ्यता, जिसके दुष्परिणामों से योरोप के लोगों का सामाजिक तथा गार्हस्थ्य जीवन नरकमय बन गया है, देश के अनुकरण करने की प्रवृत्ति को रोकना चाहते हैं। हमारे देश को रंग-विरंगी तितलियों की आवश्यकता नहीं परन्तु पतिव्रता सदाचारिणी तथा आत्म-बलिदान के भावपूर्ण और सेवा तथा सहृदयता के भावोंवाली देवियों को आवश्यकता है। स्त्री-जाति का सुधार होना चाहिये पर वह सुधार आर्य-आदर्श के अनुसार हो। इस प्रकार से इस अध्याय में वैदिक कालीन स्त्रियों की अवस्था का विशद वर्णन करते हुए वैदिक सभ्यता के प्रकाश में वर्त्तमान समय की कुछ समस्याओं पर भी संक्षेप से विचार किया गयाहै। अन्त में

पूर्णं नारि प्रभर कुम्भमेतं घृतस्य धाराममृतेन संभृताम्।
इमां पातृमृतेना समंग्धीष्टापूर्तमभिरक्षत्येनाम् ॥

हे नारी अमृत रस से परिपूर्ण इस घड़े को सादर ला। अमृत से मिली हुई घृत की धारा को ला पीने वाले को अमृत रस से तृप्त कर।

अहं केतुरहंमूर्धाहमुग् विवाचनी
ममेदनु क्रतुं पतिः सेहानाया उपाचरेत्। ऋग्वेद १०-१५९-२

मैं ज्ञानवती हूँ, घर की मुखिया हूँ, धैर्यवती हूँ, व्याख्यात्री हूं। शत्रु का नाश करनेवाली हूँ, इसलिये मेरा पति मेरी सलाह से कार्य करे।

मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्।

उताहमस्मि संजया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः। ऋ० १०-१५९-३

अर्थात् मेरा पुत्र शत्रुनाशक हो। मेरी पुत्री तेजस्विनी हो और मैं स्वयं विजयिनी हूँ। मेरी ओर से पति के लिये उत्तम प्रशंसा हो।

पंचम अध्याय

वेद तथा आश्रम विभाग

वैदिक धर्म के अनुसार मनुष्य जीवन को अत्यन्त मूल्यवान् माना गया है। इसको उन्नत करने के लिये वेद में सैकड़ों स्थानों पर निर्देश दिये गये हैं। क्योंकि कितने ही सुकर्मों के अनन्तर यह मनुष्य जन्म मिलता है। इस जीवन को सांसारिक भोग विलास में व्यर्थ नष्ट करना नितान्त अज्ञानता तथा मूर्खता है। आश्रम का अर्थ मंज़िल या stage है। अर्थात् मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य जन्म मरण के बंधन से मुक्त होकर अमर पद को प्राप्त करना है। उस पद तक पहुंचने के लिये और अपने आपको उस पद का अधिकारी बनाने के लिये वेद ने मनुष्य जीवन को चार हिस्सों में बांटा है। प्रत्येक मंज़िल को पार करते हुये मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने जीवन को अधिक से अधिक पवित्र बनाया जाये।

चत्वार्यन्या भुवनाति निर्णिजे।
चारूणिचक्रे यदृतैरवर्धत॥ ऋ० ९-७०-१॥

केवल भोग प्राप्त करने में अपने इस जीवनको समाप्त करने वाले मनुष्य तथा पशु में कोई विशेष भेद नहीं है। जो अपने लिये ही जीते हैं उनका जीवन भी प्रशंसनीय नहीं है। उन्होंने भी मनुष्य जीवन के लक्ष्य के मर्म या तत्व को नहीं समझा। जीवन का वैदिक आदर्श या आदर्श तक पहुँचने का साधन दूसरों के बोझ को अपने कन्धों पर लेना है। दूसरों के आँसुओं को अपने आँसुओं में बहा देना है। प्राणिमात्र में प्रेम तथा स्व की भावना करना है। प्राणिमात्र को अपनी तरह समझना है।

यस्तु सर्वाणिभूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततोनविजुगुप्सते ॥
यस्मिन्त्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्रको मोहः कः शोकः एकत्व मनुष्यतः ॥

ब्रह्मचर्य

पहली सीढ़ी ब्रह्मचर्य है। यह स्व (self) से प्रारम्भ होती है। इसमें अपनी उन्नति करनी होती है। शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आत्मिक विकास करने का यह समय है। वेदों में ब्रह्मचर्य की महिमा का स्थान २ पर वर्णन किया गया है। ब्रह्मचर्य की नींव पर ही बाकी आश्रमों का आधार है। यदि ब्रह्मचर्यकाल में ब्रह्मचर्य का पालन न किया जाये तो मनुष्य का शेष जीवन व्याधिग्रस्त तथा सत्वहीन हो जाता है।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्व १ राभरत ॥
अ० ११-५ (७) १९ ।

अर्थात् ब्रह्मचर्य रूप तप से सब देवों ने मृत्यु को दूर किया और इन्द्र ने ब्रह्मचर्य से ही देवों को तेज दिया है। इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचर्य पालन करने के कारण ही सब देव अमर बने हैं। तथा ब्रह्मचर्य के सामर्थ्य से ही देवराज इन्द्र=जीवात्मा सब इतरदेवों को=इन्द्रियों को तेज दे सकता है।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ अ० ११-५ (७) १७

अर्थात् राष्ट्र के सब अधिकारी क्षत्रिय तथा सब अध्यापक ब्राह्मण ब्रह्मचर्य आदि सुनियमों का पालन करनेवाले हों तथा वे दोनों राष्ट्र के सब बालकों से ब्रह्मचर्य पालन तथा वीर्यरक्षण करावें। यही सब तप है।

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः ।
प्रजापतिर्विराजति विराडिंद्रोभवद्वशी । अ० ११-५ (७) १६

अर्थात् राष्ट्र में सब शिक्षक ब्रह्मचारी होने चाहिएँ। सब राज्याधिकारी प्रजापालन के कार्य में नियुक्त पुरुष भी ब्रह्मचारी होने चाहिएँ।

ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति ।
स दाधार पृथिवीं दिवंच स आचार्यं तपसा पिपर्ति ॥
अ० ११-५-१

ब्रह्मचारी पृथिवी और द्युलोक इन दोनों को पुनः पुनः अनुकूल बनाता हुआ चलता है। इसलिये उस ब्रह्मचारी के अन्दर सब देव अनुकूल मन के साथ रहते हैं। ब्रह्मचारी पृथिवी और द्युलोक को धारण करता है और वह अपने तप से आचार्य को परिपूर्ण बनाता है।

ब्रह्मचर्य शब्द बहुत प्राचीन है। वैदिक साहित्य में इसके तीन प्रधान अर्थ प्रयुक्त होते हैं। 'ब्रह्म' शब्द वीर्य, वेद और ईश्वरवाचक है। 'चर्य' रक्षण, अध्ययन तथा चिन्तन का द्योतक है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य के तीन प्रधान अर्थ समझे जाने चाहियें। वीर्यरक्षण, वेदाध्ययन, ईश्वरचिन्तन। पृथक् पृथक् तीन अर्थ होने पर वे तीनों ही एक मूलभूत ब्रह्मचर्य में सन्निहित हैं। ब्रह्मचर्यकाल में इन तीनों बातों की ही सिद्धि होती है। तथापि वीर्यरक्षण अर्थ में यह शब्द इतना प्रसिद्ध हो गया है कि ब्रह्मचर्य शब्द का उच्चारण करते ही लोगों के हृदय में वीर्य रक्षण का भाव उठता है।

ब्रह्मचर्य की महिमा

वेदों के अतिरिक्त अन्य बहुत से स्थानों पर वैदिक साहित्य में ब्रह्मचर्य की महिमा का वर्णन आया है।

अर्थात् चारों वेद एक तरफ़ और दूसरी तरफ़ ब्रह्मचर्य दोनों एक तुला पर रख कर तोले जायें तो दोनों पलड़े बराबर होंगे।

तप, ब्रह्मचर्य तथा सत्य की जिनमें प्रतिष्ठा है वे ही स्वर्ग के अधिकारी हैं।

अर्थात् सदाचार का पालन करने से मनुष्य को दीर्घायु, मनचाही सन्तान और अमित धन मिलता है। सदाचार से अनेक दुर्गुण नष्ट हो जाते हैं।

(४) सर्व लक्षण हीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः।
श्रद्धधानो ऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति। मनु

सब शुभ लक्षणों से रहित भी जो सदाचारी पुरुष है, शास्त्रों पर श्रद्धा रखने वाला और ईर्षा से घृणा करने वाला है वह शतवर्ष जीता है।

(५) सत्येन लभ्यस्तपसाह्येष आत्मा, सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्। अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो, यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः।

अर्थात् सत्य तप, पूर्णज्ञान और अविचल ब्रह्मचर्य से आत्मा की प्राप्ति होती है। वह अन्तःकरण में ज्योतिर्मय और निर्मल रूप से विद्यमान है। जो निष्पाप हैं वेही उसका दर्शन कर सकते हैं।

(६) ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। योग दर्शन

ब्रह्मचर्य का पालन करने से ही वीर्य का लाभ होता है।

(७) मरणं बिन्दुपातेन, जीवनं बिन्दु धारणात्।
सिद्धे बिन्दौ महायत्ने, किं न सिध्यति भूतले॥

ब्रह्मचर्य रक्षा ही जीवन है और वीर्य नाश ही मृत्यु है।

(८) आयुर्वेद विद्या के महर्षि धन्वन्तरि अपने शिष्यों को आयुर्वेद का उपदेश कर रहे थे। पाठ समाप्त होने पर शिष्यों ने उनसे प्रश्न किया कि भगवन्! कोई ऐसा एक ही उपचार बतलाइये जिसके सेवन से सर्व प्रकार के रोगों का नाश हो सके। शिष्य का प्रश्न सुन कर आचार्य ने कहा कि—

मृत्युव्याधी जरानाशी–पीयूषं परमौषधम्।
ब्रह्मचर्यं महद् रत्नं, सत्यमेव वदाम्यहम्॥

मैं सत्य कहता हूं कि मृत्यु रोग, वृद्धपन का नाश करने वाला अमृत रूप सबसे बड़ा उपचार ब्रह्मचर्य ही है।

वीर्य महत्त्व (१) शुक्रायत्तं बलं पुंसः।

अर्थात् वीर्य के आधीन मनुष्य का शारीरिक बल रहता है।

(२) आहारस्य परं धाम, शुक्रं तद्रक्ष्यमात्मनः।
क्षये यस्यबहून्रोगान् मरणं वा नियच्छति॥ चरक॥

अर्थात मनुष्य के भी मन का सबसे उत्कृष्ट अंश वीर्य है। अतएव यत्न से उसकी रक्षा करनी चाहिये। क्योंकि वीर्य के क्षय होने से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं और उसका अन्तिम परिणाम मरण भी है।

(६) रसाद्रक्तं ततो मांसं, मांसान्मेदः प्रजायते।
मेदस्यास्थि ततो मज्जा, मज्जायाः शुक्रसम्भवः॥ सुश्रुत॥

अर्थात् भोजन के पचने पर रस, मेदा, अस्थि, मज्जा और सब से अन्तिम सबका तत्त्व वीर्य बनता है।

(४) ओजस्तु तेजो धातुनां, शुक्रान्तानां परं स्मृतम्।
यन्नाशे नियतं नाशो यस्मिंस्तिष्ठति जीवनम्॥ वाग्भट्ट

रस से लेकर वीर्य पर्यन्त सब धातुओं का सार ओज है जिसके नष्ट होने पर कोई जीवन धारण नहीं कर सकता।

(५) ओजः सर्व शरीरस्य स्निग्धं शीतं स्थिरं सितम्।
सोमात्मकं शरीरस्य बलपुष्टिकरं मतम्॥ यो० चि०

अर्थात् ओज का निवास सारे शरीर में है। यह चिकना शीतल, स्थिर और उज्वल होता है। यह शरीर भर में तेज फैलानेवाला और बलपुष्टि का बढ़ानेवाला है।

(६) एवं मांसेन रसः शुक्रोभवति पुंसां स्त्रीणांचार्त्तवमिति॥
सुश्रुत।

इस प्रकार एक मास में यह रस पुरुष के शरीर में वीर्य और स्त्री के शरीर में रज बन जाता है।

(७) यथा पयसि सर्पिस्तु गूढश्चेन्नौ रसो यथा।
एवंहि सकले काये, शुक्रं तिष्ठति देहिनाम्।

जैसे दूध में घी और ईख में रस गुप्त रूप से रहता है उसी प्रकार से प्राणियों के शरीर भर में वीर्य रहता है।

(८) वैज्ञानिकों ने निश्चय किया है कि ४० सेर खुराक से १ सेर रुधिर बनता है और २ सेर रुधिर से २ तोला वीर्य।

वीर्य रक्षा के नियम

(१)—ब्राह्मे मुहूर्त बुध्येत धर्मार्थौचानुचिन्तयेत्।
कायक्लेशांश्चतन्मूलान् वेदतत्वार्थमेव च॥ मनु।

ब्राह्म मुहूर्त में उठ कर धर्मार्थ का चिन्तन करना चाहिये

अपने शरीर के क्लेशों और उनके कारणों पर विचार करना चाहिये और वेदों के तत्त्वों का अध्ययन करना चाहिये।

२—कौपीन धारण करनी चाहिये। कौपीन धारण करने से अण्डकोष नहीं बढ़ता। इन्द्रियों में प्रचुरशक्ति संचित होती है। मन वश में होता है।

३—प्राणायाम करना चाहिये।

(१) दह्यन्तेध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्।

(२) प्राणायाम करनेवाले को काम विकार नहीं सताता, मन तथा इन्द्रियों पर अधिकार प्राप्त होता है।

(३) बुद्धि तथा बल की वृद्धि होती है।

(४) वीर्य की अधोगति नहीं होती।

(५) शारीरिक तथा मानसिक विकार नहीं पैदा होते।

(६) अधर्म की ओर चित्त नहीं जाता।

४—ऋषयो दीर्घसन्ध्यात्त्वादीर्घमायुरवाप्नुयुः।
प्रज्ञां च यशश्च कीर्त्तिञ्च ब्रह्मवर्य मेव च॥ मनु०

सन्ध्या करने से ऋषियों को दीर्घजीवन, बुद्धि, यश तथा ब्रह्मचर्य की प्राप्ति हुई।

५—स्वल्पाहार—

अनारोग्यमानयुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम्।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत् परिवर्जयेत्॥

अर्थात् थोड़ा भोजन करने से शरीर स्वस्थ तथा

नीरोग होता है। मनमें बल तथा स्फूर्ति पैदा होती है। आलस्य का नाश होता है। वीर्य-रक्षा में सहायता मिलती है।

६—सत्सङ्ग से मन का विकार तथा अविवेक दूर होता है। मानसिक तथा आत्मिक उन्नति होती है।

७—सद्ग्रन्थावलोकन या स्वाध्याय से मनुष्य के मन के विकार दूर होते हैं और मन में सद्भावनायें पैदा होती हैं

८—दैनिक व्यायाम से शरीर की कान्ति, अंगों का गठन अग्निदीप्तिता, निरालस्य, स्थिरता, स्फूर्ति, नीरोगता, सर्दी तथा गर्मी के सहने की शक्ति इत्यादि लाभ होते हैं।

९—संसार की स्त्री-जाति में मातृभाव रखना।

१०—सादा जीवन रखना।

११—खड़ाऊँ का धारण करना—पैर के अँगूठे के पास जो बड़ी नस है, उसका जननेन्द्रिय के साथ गहरा सम्बन्ध है। वह नस यदि टूट जाये तो मनुष्य की शीघ्र मृत्यु हो जाये। खड़ाऊँ से जब यह नस दब जाती है तो कामवासना भी दब जाती है।

आदर्श ब्रह्मचारी ऋषि दयानन्द सत्यार्थ प्रकाश के तृतीय समुल्लास में लिखते हैं कि "जब तक वे ब्रह्मचारी वा ब्रह्मचारिणी रहें, तब तक स्त्री वा पुरुष का दर्शन, स्पर्शन, एकान्त सेवन, भाषण, विषय कथा, परस्पर क्रीड़ा, विषय का ध्यान और सङ्ग इन आठ प्रकार के मैथुनों से अलग रहें।"

वर्जयेन्मधुमासञ्च गन्धन् माल्यं रसान् स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥
अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णो उपानच्छत्र धारणम्।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम् ॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथाऽनृतम्।
स्त्रीणांप्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥
एकः शयीत सर्वत्र न रेतःस्कन्दयेत्कचित्।
कामाद्धि स्कन्दयन् रेतो हिनस्तिव्रतमात्मनः ॥

ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी, मद्य, मांस, गन्ध, माला, रस, स्त्री और पुरुष का सङ्ग, सब खटाई आदि प्राणियों की हिंसा, अङ्गों का मर्दन, बिना निमित्त उपस्थेन्द्रिय का स्पर्श, आँखों में अंजन, जूते तथा छत्र का धारण, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोक, ईर्ष्या, द्वेष, नाच, गान और बाजा बजाना, द्यूत, जिस किसी की निन्दा-कथा, निन्दा, मिथ्या भाषण, स्त्रियों का दर्शन-स्पर्शन, दूसरे की हानि आदि कुकर्मों को सदा छोड़ देवे। सर्वत्र एकाकी सोवे। वीर्य स्खलित कभी न करे। जो कामना से वीर्य स्खलित कर दे तो जानो कि अपने ब्रह्मचर्य व्रत का नाश कर दिया। —सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास।

गृहस्थाश्रम—अपने असली उद्देश्य, "विश्वात्मा में अपनी आत्मा को लीन कर देने तक, पहुँचने की दूसरी सीढ़ी, गृहस्थाश्रम है। इसमें 'स्व' का विस्तार होता है। अपने आप भूखा रह सकता है परन्तु अपने बच्चों को अपनी आँखों के सामने किसी

भी प्रकार से दुःखित नहीं देख सकता। अपनी सन्तान के लिये पितृत्व के महान् आदर्श को पूरा करने के लिये गृहस्थाश्रम में त्याग तथा तप का पाठ सीखता है और उसका अभ्यास करता है। अपने सन्तान की दुःखित अवस्था में रात्रियों जागकर तथा भूखा रहकर त्याग तथा तप के महान् आदर्श तक पहुँचने का यत्न करता है। साथ ही अतिथि-यज्ञ तथा बलिवैश्वदेव यज्ञ के द्वारा अपनी आत्मा का विकास करके प्राणीमात्र के साथ प्रेम अथा सहानुभूति का पाठ सीखता है। कुछ इने-गिने तेजस्वी तथा लोकोत्तर पुरुषों के अतिरिक्त इस आश्रम में प्रत्येक को प्रवेश करना चाहिये; क्योंकि तप तथा त्याग का पाठ किसी पाठशाला में नहीं सीखा जा सकता। इसके सीखने का सबसे उत्कृष्ट स्थान गृहस्थाश्रम ही है। इसी लिये वेदों तथा अन्य शास्त्रों में गृहस्थ-आश्रम की महिमा का स्थान स्थान पर गान किया गया है।

यथावायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः॥

मनु० ९-७७॥

जैसे वायु के आश्रय से सब जीवों का जीवन सिद्ध होता है, वैसे ही गृहस्थ के आश्रय से ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी अर्थात् सब आश्रमों का निर्वाह होता है।

यस्मात् त्रयो ऽप्याश्रमिणो दानेनान्नेन त्वानहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥ मनु ३-७८

जिससे ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासी इन तीन आश्रमियों का अन्न वस्त्रादि दान से नित्यप्रति गृहस्थ धारण-पोषण करता है। इसलिये व्यवहार में गृहस्थाश्रम सबसे बड़ा है।

स: संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता।
सुखं चेहेच्छता नित्यं यो ऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ॥ मनु ३-७९।

अक्षय मुक्ति-सुख को और इस संसार के सुख की इच्छा रखनेवालों को गृहस्थाश्रम को प्रयत्न से धारण करना चाहिये यह गृहस्थाश्रम दुर्बलेन्द्रिय पुरुषों द्वारा अधार्य है।

विवाह किस आयु में होना चाहिये।

ऋषि दयानन्द लिखते हैं कि "सोलहवें वर्ष से लेकर चौबीसवें वर्ष तक कन्या और पच्चीसवें वर्ष से लेकर अड़तालीसवें वर्ष तक पुरुष का विवाह-समय उत्तम है। इसमें जो सोलह और पच्चीस में विवाह करे तो निकृष्ट, अठारह बीस की स्त्री तीस-पैंतीस वा चालीस वर्ष के पुरुष का मध्यम, चौबीस वर्ष की स्त्री और अड़तालीस वर्ष के पुरुष का विवाह होना उत्तम है। जिस देश में इसी प्रकार विवाह की विधि श्रेष्ठ और ब्रह्मचर्य विद्याभ्यास अधिक होता है वह देश सुखी और जिस देश में ब्रह्मचर्य विद्या ग्रहण रहित बाल्यावस्था और अयोग्यों का विवाह होता है वह देश दुःख में डूब जाता है क्योंकि ब्रह्मचर्य विद्या के ग्रहणपूर्वक विवाह के सुधार ही से सब बातों का सुधार और बिगड़ने से बिगाड़ हो जाता है सत्यार्थप्रकाश।

"जो कोई युवावस्था में विवाह न करा के बाल्यावस्था में अनिश्चित, अयोग्य वर कन्या का विवाह करावेंगे वे वेदोक्त ईश्वराज्ञा के विरोधी होकर महादुःखसागर में क्योंकर न डूबेंगे।" —संस्कार विधिः।

"What married people should know" नामक पुस्तक के लेखक लिखते हैं कि "The children born of early-marriages are feeble, liable to disease and generally die, young and though they have an appearance of perfect health and robustness, they seldom reach the age of manhood and old age is out of question. पृष्ठ २६।

अर्थात् बाल-विवाह से उत्पन्न सन्तान निर्बल होती है और अनेक बीमारियों के शिकार होने की अत्यन्त सम्भावना रहती है। उनकी प्रायः युवावस्था में मृत्यु हो जाती है। यद्यपि देखने में वे स्वस्थ दिखाई पड़ते हैं परन्तु वे युवावस्था तक भी कठिनता से पहुँचते हैं।

उपर्युक्त भाव संस्कृत के निम्न श्लोक का छायानुवाद प्रतीत होता है।

ऊनषोडश वर्षायामप्राप्तः पंचविंशतिम्।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते॥
जातो वा न चिरञ्जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्॥

सुश्रुत शारीरस्थान अ० १० श्लोक ४६४८

अर्थात् सोलह वर्ष से न्यून वयवाली स्त्री में पच्चीस वर्ष से न्यून आयुवाला पुरुष जो गर्भ को स्थापन करे तो वह कुक्षिस्थ हुआ गर्भ विपत्ति को प्राप्त होता अर्थात् पूर्ण काल तक गर्भाशय में रह कर उत्पन्न नहीं होता। अथवा उत्पन्न हो तो फिर चिर-काल तक नहीं जीता। यदि जिये तो दुर्बलेन्द्रिय होता है।

"The time required for the full growth of the body, owing to climate, temperament and other influences, differs in almost all individuals, the difference, not amounting to any great degree, yet sufficient to fix an age for marrying that would be eqully applicable to all, nevertheless, it is safe to say that no man, having the just desire for the acquiring and retaining of health and happiness, should marry under twenty five years of age and it would be better that he wait until the thirtieth year before marriage." पृष्ठ २८.

अर्थात् विवाह का समय जलवायु, मानसिक अवस्था तथा अन्य कई कारणों से भिन्न-भिन्न हो सकता है परन्तु फिर भी विवाहकी एक आयु निर्धारित की जा सकती है। जो मनुष्य स्वास्थ्य तथा सुख चाहता है, उसे २५ वर्ष की आयु से पूर्व विवाह कभी नहीं करना चाहिए। और यदि वह ३० वर्ष की आयु तक प्रतीक्षा कर सके तो अधिक अच्छा होगा।

"Woman, with greater risks and more ardous duties to undergo and who for these reasons, requires the full amount of health and strength that comes of perfect growths should under no consideration marry before twenty one years of age, and it would be much towards her own welfare, if she did not marry until she arrived at the age of twenty-four."

अर्थात् स्त्री को अत्यन्त कठिन कर्त्तव्यों तथा उत्तरदायित्व का कार्य करना होता है। उसे कम से कम २१ वर्ष की आयु से पूर्व विवाह नहीं करना चाहिये। यदि वह २४ तक प्रतीक्षा कर सके तो बहुत अच्छा है।" ऋषि दयानन्द ने भी स्त्री की विवाह की कम-से-कम आयु २४ ही रक्खी है।

आजकल इतने महत्त्वपूर्ण कार्य को घर के अनपढ़ पुरोहित और नाई मिलकर सम्पादित कर देते हैं और कन्या के भाग्य का निर्णय कर लेते हैं। ज्योतिषीजी अपनी दलाली लेकर अपनी अनुमति दे देते हैं चाहे वर कैसा भी निकम्मा क्यों न हो। कुण्डली मिल गई। ब्याह हो गया। दुर्भाग्य है आर्य-जाति का जहाँ बालक का विवाह करना ही माता-पिता के जीवन का मुख्य उद्देश्य होता है। शास्त्र तथा विद्वानों का मत है कि 'श्री, श्री, स्त्रीम्' अर्थात् विद्या तथा धन की प्राप्ति के बाद विवाह ही होना चाहिये। परन्तु हमारी जाति में आजकल पहले

विवाह कर दिया जाता है चाहे बच्चा सारी आयु मूर्ख ही रह जाये। बालकपन में वीर्यनाश से नाना प्रकार की बीमारियाँ पैदा होती हैं, तथा आनेवाली सन्तति निर्बल हो जाती है। क्योंकि निर्बल नींव पर कभी पक्की तथा दृढ़ इमारत खड़ी नहीं की जा सकती। बाल-विवाह में प्रसव के समय बाल-माताओं को अत्यन्त कष्ट उठाना पड़ता है। बहुत-सी देवियाँ हमारी भूलों से प्रथम प्रसव के समय ही इस संसार से विदा हो जाती हैं। बहुत-से बच्चे पैदा होते ही, मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं और जो जीवित रहते हैं वे भी नाना प्रकार की व्याधियों से पीड़ित हुए अत्यन्त निर्बल तथा दुःखी अवस्था में अपने जीवन को व्यतीत करते हैं। बाल-विवाह से विधवाओं की संख्या की भी वृद्धि होती है और उसका जो दुष्परिणाम होता है, उसका वर्णन भी लेखनी से करना असम्भव है। हमारी अनाथा विधवाओं पर जो सामाजिक अत्याचार युगों से हो रहे हैं, उनके कारण उनकी स्थिति अब ऐसी हो गई है कि उनकी जो नैतिक भित्ति, कभी इस्पात की भाँति सुदृढ़ थी; वह अब धीरे धीरे नष्ट होती चली जाती है। इसमें उनका तनिक भी दोष नहीं है। मानव-स्वभाव के सहज विकास के प्रति समाज ने जो ज़बर्दस्ती की है यह उसीका अनिवार्य परिणाम है। इधर सामाजिक क्रान्ति के साथ ही साथ विधवाओं में भी विद्रोह के भाव पैदा होने लगे हैं। इस विद्रोह की उत्तेजना के कारण अपनी वर्त्तमान असहायावस्था

से उकता कर उपयुक्त-अनुपयुक्त का विचार किये बिना ही वे किसी भी आश्रय को आँखें मूँद कर ग्रहण करने के लिये लालायित हो उठती है। ऐसी स्थिति में कोई भी चतुर गुण्डा उन्हें बहकाकर अत्यन्त सरलता से उनका सर्वनाश करने में समर्थ हो सकता है। यही कारण है कि आज वे हिन्दू तथा मुसलमान गुण्डों द्वारा यत्र-तत्र अपहृत होती दिखाई देती हैं। और बहुधा स्वेच्छा से इन गुण्डों को आत्मसमर्पण करती हैं। गुण्डे स्वयं शारीरिक रूप से उनका सर्वनाश करके, उनके भरण-पोषण का भार ग्रहण करने के अनिच्छुक होने के कारण उन्हें दूसरों के हाथ बेच डालते हैं। इस प्रकार उनका जीवन नारकीय बन जाता है। यह बात निर्विवाद है कि उनकी इस स्थिति या अवस्था का कारण बाल-विवाह है। यदि बालविवाह की प्रथा को रोक दिया जाय, तो विधवाओं की संख्या भी अत्यधिक न्यून हो जाय और इस प्रकार की घटनाओं की पुनरावृत्ति सर्वथा बन्द हो जाये। बाल-विवाह की अन्य हानियों के साथ सबसे बड़ी हानि यही है। आज हिन्दू-समाज में बच्चे-बच्ची का बुड्ढे-बालिका का और युवती-बच्चे का भी विवाह हो जाता है। यानी बाल-विवाह और अनमेल विवाह खूब होता है। फल स्वरूप हज़ारों अक्षतयोनि बालिकाएँ विधवा क़रार दे दी जाती हैं। लाखों युवती विधवाओं की आह से हिन्दू-जाति जर्जरित हो रही है। विधुर तो युवक हो या जरठ, उसे मरण काल तक दुधमुँही बालिका को भी पत्नी बनाने का अधिकार

है, उसके लिये विधुर रह कर पवित्रता-पूर्वक जीवन व्यतीत करना आवश्यक नहीं समझा जाता, परन्तु विधवा चाहे वह अक्षत योनि ही क्यों न हो, उसे ब्रह्मचर्य से रहने के लिये बाध्य किया जाता है। इसका परिणाम कितना भयानक होता है इसके वर्णन करने की आवश्यकता नहीं। हमारे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि प्रत्येक विधवा को विवाह करने के लिये बाध्य किया जाय, परन्तु हमारा मतलब यह है कि कम से कम अक्षत योनि तथा निःसन्तान विधवाओं को स्वतन्त्रता-पूर्वक वैधव्य या वैवाहिक जीवन व्यतीत करने का अधिकार मिलना चाहिये। अगर युवती विधवायें संयमी जीवन व्यतीत कर सकती हों तो अवश्य ही किसी युवती का विवाह करना सरासर अत्याचार है, परन्तु विधवा-विवाह की सामाजिक रुकावट का अवश्य ही मूलोच्छेदन करना चाहिये। यदि बाल-विवाह की प्रथा को सर्वथा बन्द कर दिया जाय तो विधवा-विवाह की समस्या हल हो जाती है। वेद ने इस विषय में कितना सुन्दर कहा है। अथर्व वेद के द्वितीय काण्ड ३० सूक्त में कई ऐसे शब्द आते हैं जिनके आधार पर विवाह की वैदिक-आयु पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। इस सूक्त में "अश्विनौ" "कामिनौ" इन दो शब्दों पर विचार करने की आवश्यकता है। अर्थात् दोनों स्त्री पुरुष गर्भाधान करने और धारण करने की शक्ति से युक्त हों और परस्पर की इच्छा करनेवाले हों। ये दोनों ही युवावस्था का

निर्देश कर रहे हैं और 'आपंचविंशते यौवनम्' के अनुसार पुरुष की २५ और कन्या की १६ वर्ष में युवावस्था प्रारम्भ होती है और प्रायः इसी अवस्था में विवाह की इच्छा पैदा होती है। "इयं पतिकामा आ अगन्"—"अहं जनि कामः आ अगमम्"—अर्थात् यह स्त्री पति की इच्छा करती हुई आ गई है और मैं स्त्री की इच्छा करता हुआ आया हूँ। यह समय है जो विवाह के लिये योग्य है। जिस समय दोनों में पारस्परिक प्राप्ति की इच्छा हो उसी समय विवाह करना चाहिये।

"ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्"

अ० ११-५-१८।

गृहस्थाश्रम में प्रवेश का अधिकार किसको है

गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिये दोनों में विद्या, सुशीलता, सदाचारादि गुणों का होना आवश्यक है। इसमें कोई संदेह नहीं कि गृहस्थाश्रम में धन की भी आवश्यकता है। परन्तु सबसे बढ़कर सदाचार है, जिसके अभाव में अन्य सब बातें तुच्छ हैं।

अविप्लुत ब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत् ॥ मनु० ३-२।

जिसका ब्रह्मचर्य खण्डित न हुआ हो वह पुरुष वा स्त्री गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे।

उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च।
अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्विचक्षणः ॥

कामममामरणा तिष्ठेद् गृहे कन्यर्त्तमत्यपि ।
नचैवैनां प्रयच्छेत् गुणहीनाय कर्हिचित् ।। मनु० ।

अर्थात् यदि माता-पिता कन्या का विवाह करना चाहे तो अतिउत्कृष्ट शुभ गुण-कर्म-स्वभाववाले, कन्या के सदृश रूप लावण्यादि गुणयुक्त वर ही को दें। वह कन्या (वर) माता की छः पीढ़ी के भीतर भी हो तथापि उसी को कन्या देना अन्य को कभी न देना। चाहे मरण पर्यन्त कन्या पिता के घर में बिना विवाह के बैठी रहे परन्तु गुणहीन, असदृश, दुष्ट पुरुष के साथ कन्या का विवाह कभी न करे।" कहने का तात्पर्य यह है कि कन्या के विवाह में माता की जातपात तथा धनादि का सर्वथा भी विचार न करके गुण कर्मानुसार सदृश वर से ही विवाह करे। आजकल जात-पात देखी जाती है। धन देखा जाता है परन्तु सदाचार की तनिक भी पर्वाह नहीं की जाती। परिणाम यह होता है कि आज गृहस्थ जीवन प्रायः नरकधाम बने हुए हैं।

आज़कल वर या तो धन या दहेज की पर्वाह करते हैं और या रूप पर मरते हैं। उसी प्रकार कन्याओं के माता पिता या तो लड़के की जात-पात देखते हैं और या उसके वेतन की पर्वाह करते हैं। सदाचार या गुण कर्म स्वभाव के मिलाने की कोई भी चिन्ता नहीं करता। इन अनमेल विवाहों से हज़ारों हिन्दू घराने नरकधाम बने हुए हैं। आज़कल कन्या-विक्रय का रिवाज दिन-प्रतिदिन बढ़ रहा है। वर हज़ारों रुपयों

का तथा मोटरों की दहेज़ माँगते हैं। जो माता-पिता आजकल के नवीन शिक्षित वरों की याचना पूरी कर देते हैं; उनकी कन्याओं को तो पति मुख देखने का सौभाग्य मिल जाता है शेष क्वाँरी रह जाती हैं या अनमेल विवाह के परिणाम स्वरूप नारकीय जीवन व्यतीत करती हैं। ये धनलोभी पिशाच दहेज़ लेकर ही शान्त नहीं होते परन्तु विवाह के बाद भी इनकी माँगें जारी रहती हैं। जब तक गुण कर्मानुसार विवाह की प्रथा प्रचलित न होगी तब तक इन समस्याओं का हल नहीं हो सकता।

स्वयम्वर

वैदिक सभ्यता में कन्या को अपना पति चुनने का अधिकार है। जिसके साथ उसने सारी आयु व्यतीत करनी है उसको स्वयं चुनने का अधिकार है। क्योंकि गृहस्थाश्रम का उत्तरदायित्व अधिकतर स्त्री पर होता है सन्तानोत्पत्ति का कठिन तथा महत्त्वपूर्ण कार्य उसने ही करना है। इसलिये उसे अधिकार होना चाहिये कि वह अपनी भावी सन्तति का पिता स्वयं चुने। 'मित्रं स्वयं वनुते' अर्थात् कन्या अपने पति का स्वयं चुनाव करती है। यहाँ पर एक और महत्त्वपूर्ण बात कही गई है कि पति पत्नी में मित्र भाव होना चाहिये। सप्तपदी की क्रिया में भी 'सखे सप्तपदीभव' पुरुष स्त्री को सखि या मित्र नाम से सम्बोधित करता है। यह मित्रभाव इस बात का द्योतक है कि गृहस्थाश्रम में दोनों की स्थिति समान है और जिस भाँति एक-जैसे गुण-कर्म-स्वभाव

वाले पुरुषों में मित्रता होती है उसी प्रकार एक जैसे गुण कर्म स्वभाववाले वर तथा कन्या का ही सम्बन्ध होना चाहिये।

इयमग्ने नारी पतिं विदेष्ट सोमो हि राजा सुभगां कृणोति।
सुवाना पुत्रान् महिषी भवाति गत्वा पतिं सुभगा विराजतु ॥
अथर्व० २-३६-३॥

(अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमात्मन् (इयम्) यह नारी (पतिं) पति को (विदेष्ट) प्राप्त करे (सोमः) ऐश्वर्यवान् वर इसको (सुभगां) सौभाग्यवती (करोति) करता है। यह नारी (पुत्रान् सुवाना) उत्तम पुत्रों को पैदा करती हुई (महिषी भवाति) पूजनीय होवे और (पतिं गत्वा) पति को प्राप्त होकर (सुभगा विराजतु) सौभाग्यवती होकर सुख से रहे।

भगस्य नावमारोह पूर्णामनुपदस्वतीम्।
तयोपप्रतारय यो वरः प्रतिकाम्यः ॥ अथर्व० २-३६-५ ॥

हे कन्या ! तू (भगस्य) ऐश्वर्यादि छः प्रकार के भग की (पूर्णा नावमारोह) पूरी भरी हुई नौका पर चढ़ (अनुपदस्वतीम्) और जो नौका अदूर है (तथा) उस नाव से (यःप्रतिकाम्यःवरः) जो कामना करने योग्य वर है उसे (उपप्रतारय) पार ले जा।

एयमागन् पतिकामा जनिकामोऽहमागमम्।
अश्वः कनिक्रदद् यथाभगेनाहं सहागमम् ॥ अ० २-३०-५ ॥

(इय) यह स्त्री (पतिकामा)पति की इच्छा करती हुई (अगन्) आई है और (अहं) मैं (जनिकामः) सन्तान की इच्छा

वाला होकर इसे (आगमम्) प्राप्त हुआ हूँ। (अहं) मैं इस पत्नी के पास (भगेन सह) ऐश्वर्य और कल्याण के साथ इस प्रकार (आगमम्) प्राप्त हुआ हूँ (यथा) जिस प्रकार (कनिक्रदद्) खूब गर्जता हुआ (अश्वः) गतिशील मेघ प्राप्त होता है।"

आर्य-धर्म में पति-पत्नी का सम्बन्ध अटूट है। विवाह-संस्कार द्वारा स्त्री-पुरुष को आजन्म अभिन्न आत्मीय बनकर रहने तथा उत्तम गृहस्थी की सृष्टि करके जगत् की सेवा के लिये बाँध दिया जाता है। ऐसी दशा में यह अत्यन्त आवश्यक है कि उन्हीं दो स्त्री-पुरुष को वैवाहिक-सम्बन्ध में बाँधा जाय जिनकी योग्यता, विचार, स्वभाव, गुण, रूप-रङ्ग मिलते हों और दोनों ही परस्पर बँधने को सहमत हों। परन्तु आज अधिकतर क्या होता है? कोई धन के लाभ से अपनी दुधमुँही बालिका का विवाह एक अधेड़ खूँसट से कर देता है तो कोई अपनी युवती कन्या का विवाह एक बालक से। वर ग्रैजुएट है तो कन्या प्राइमरी पास, कन्या ग्रैजुएट है तो वर मैट्रिक्युलेट। इसके अतिरिक्त विचार, स्वभाव तथा स्वास्थ्य की विषमता का तो कहना ही क्या। विवाह का सर्वाधिकार अभिभावकों को ही प्राप्त है, वे चाहे जैसे और जिससे वर या कन्या को बाँध दें, उन्हें अपनी जोड़ी पसन्द हो या नहीं, वे विवाह करना चाहें अथवा नहीं, उन्हें अपनी इच्छा प्रगट करने का अधिकार नहीं। कोई कन्या को मोल-तोल करके बेचता है तो कोई वर को टीका के नाम पर चढ़-बढ़ कर बेचता है। वर

कन्या के भविष्य की चिन्ता केवल पण्डितों के पञ्चाङ्ग में राशि और ग्रहों का मेल करा कर दूर हो जाती है। कहाँ तक कहा जाय, आज हिन्दू-विवाह-संस्कार में इतनी बुराइयाँ पैदा हो गई हैं कि इसे संस्कार न कह कर कुसंस्कार कहना अधिक सार्थक हो सकता है।

स्त्री पुत्र के उपर्युक्त सखिभाव को पुष्ट करनेवाला और मन्त्र भी आता है।

मम व्रते ते हृदयं दधामि ममचित्तमनुचित्तं ते अस्तु।
ममवाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वानियुनक्तुमह्यम्—
यदेतत् हृदयंतव तदस्तुहृदयंमम।
यदिदं हृदयंमम तदस्तु हृदयं तव॥

घर में स्त्री की स्थिति

= धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा।
एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य॥ अ० १४-१-४३।

जिस प्रकार बलवान् समुद्र ने नदियों का साम्राज्य उत्पन्न किया है इसी प्रकार तू पति के घर जाकर महारानी बन कर रह।

सम्राज्ञ्ये धिश्वशुरेष सम्राज्ञ्युत देवृषु।
ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्रवा॥ अ० १४-१-४४॥

इस मन्त्र में स्त्री को सम्राज्ञी कहा है। कितना बड़ा अधिकार है।

पत्नी का कर्त्तव्य

आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिम्।
पत्युरनुव्रता भूत्वा सं नह्यस्वामृतायकम्॥

अर्थात् स्त्री अपने मन को सदा प्रसन्न रखकर संतान, ऐश्वर्य और धन की कामना करे, सदा पति के अनुकूल ही अपना आचरण रखे तथा अपने सुख साधन ऐसे करे कि जो अमरत्व अर्थात् मोक्षरूप स्वातन्त्र्य को प्राप्त करने वाले हों और बंधन बढ़ाने वाले न हों।

सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्येश्वश्शुराय शंभूः।
स्योना श्वश्र्वै प्रगृहान् विशेमान् ॥ अ० १४-२-२६।

हे वधू! तू उत्तम मंगल करनेवाली, घरों को बढ़ाने वाली पति के लिये उत्तम सेवा करने वाली, ससुर के लिये शान्ति देने वाली, सासु के लिये आनन्द देने वाली हो।

पति पत्नी का कर्त्तव्य

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते। ऋ० १०-१९१-२॥

हे गृहस्थादि मनुष्यो! तुमको मैं ईश्वर आज्ञा देता हूँ कि (यथा) जैसे (पूर्वे) प्रथम अर्थात विद्यायोगाभ्यासी (संजनानाः) सम्यक् जाननेवाले (देवाः) विद्वान् मिल के (भागम्) सत्यासत्य का निर्णय करके असत्य को छोड़ सत्य की (उपासते) उपासना करते हैं वैसे (सम्-जानताम्) आत्मा से धर्माधर्म को सम्यक् जानने वाले (वः) तुम्हारे (मनांसि) मन का कूसरे से अविरोधी होकर एक पूर्वोक्त धर्म में सम्मत होवें और तुम उसी धर्म को (संगच्छध्वम्) सम्यक् मिलकर प्राप्त होओ जिसमें तुम्हारी एक सम्मति होती है और विरुद्ध

वाद अधर्म को छोड़ के (संवदध्वम्) सम्यक् संवाद प्रश्नोत्तर रीति से करके एक दूसरे की उन्नति किया करो, इस प्रकार विधि पूर्वक गृहस्थाश्रम धर्म की पालना करते हुए अपनी आँखों के सामने हमेशा इस उद्देश्य को रखो कि गृहस्थ साधन है साध्य नहीं। गृहस्थ के भोगों में फंसकर जो व्यक्ति अपने उद्देश्य भुला देते हैं वे अभागे हैं। जैसे ब्रह्मचर्य साधन है गृहस्थ को सुखी बनाने के लिये और गृहस्थ साधन है अगले मंज़िल तक पहुँचाने के लिये। गृहस्थ में रहते हुए मनुष्य को सदा यही समझना चाहिये कि यह साधन है, उद्देश्य नहीं।

वानप्रस्थाश्रम—ब्रह्मचर्याश्रम में तप, विद्या, वीर्य इत्यादि गुणों को अपने अन्दर पैदा कर तथा तप और ब्रह्मचर्य की भट्टी में अपने शरीर मन तथा आत्मा को बलवान् कर और ऋषि ऋण से मुक्त होकर मनुष्य गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है और वहाँ त्याग तथा बलिदान की उच्च भावनाओं से अपने आत्मा को सुसंस्कृत करके तथा धर्मानुकूल उत्तम सन्तान पैदा करके पितृ-ऋण से मुक्त होता है। ब्रह्मचर्य में विद्या तथा गृहस्थ में सांसारिक अनुभवों को प्राप्त करके वैदिकधर्म के अनुसार गृहस्थ के झंझटों से मुक्त होकर और गृहस्थ का उत्तरदायित्व अपने ज्येष्ठ पुत्र पर डालकर तथा सांसारिक वासनाओं से सर्वथा मुक्त होकर गृहस्थी जंगल में चला जाये। जहां वह एकान्त में परमात्मा का ध्यान करता हुआ मनन करे और सर्वथा सात्विक जीवन व्यतीत करे।

इस आश्रम में रहते हुए विद्या तथा अनुभव के साथ मनन का भी अपूर्व संमिश्रण होजाता है और मनुष्य का ज्ञान तथा अनुभव परिपक्वावस्था को पहुँच जाता है। गृहस्थ में कार्य बाहुल्य तथा सांसारिक झंझटों के कारण जो थकावट हो गई थी उसका शमन भी इस आश्रम में होता है। विषय-भोग की वासना का निरोध और ईश्वर-चिन्तन इस आश्रम के मुख्य कर्त्तव्य हैं।

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः।
वने वसेत्तु नियतो यथावद् विजितेन्द्रियः ॥
गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यंतदारण्यं समाश्रयेत् ॥
सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वञ्चैव परिच्छदम्।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनंगच्छेत्सहैव वा ॥ मनु० ६-१-३

विधिपूर्वक गृहस्थाश्रम का पालन करके और धर्म से उत्तम सन्तानों को पैदा करके जब गृहस्थ वृद्ध हो जावे तो वह वानप्रस्थाश्रम की दीक्षा लेवे।

वानप्रस्थी का कर्त्तव्य

अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम्।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥
मनु० ६-४।

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तोमैत्रः समाहितः।
दातानित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ॥
मनु० ६-८।

तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्ष्यमाहरेत् ।
गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषुवनवासिषु ॥ मनु० ६-२७ ।
एतांश्चान्यांश्च सेवेत दीक्षां विप्रो बने वसन् ।
विविधाश्चोपनिषदोरात्म संसिद्धये श्रुतीः ॥ मनु० ६-२९ ।

अर्थात् जितेन्द्रिय वेदादि शास्त्रों के पढ़ने पढ़ाने में नित्य युक्त, सबसे मित्रभाव, विषय वासना तथा संगरहित, किसी से कुछ भी न ले कर प्राणी मात्र पर अनुकम्पा, भिक्षादि से जीवन निर्वाह करता हुआ अपने जीवन को व्यतीत करे और आत्मा तथा परमात्मा के ज्ञान के लिये नाना प्रकार की श्रुतियों के अर्थों का विचार किया करे।

इस आश्रम के तीन मुख्य लाभ हैं:—

१—गृहस्थ के झंझटों तथा सांसारिक चिन्ताओं से मुक्त होकर स्वाध्याय, मनन, निदिध्यासन, जितेन्द्रियता इत्यादि शुभ गुणों का विकास होने से मानसिक कालिमाओं के विनाश से परमात्मा की समीपता प्राप्त होना।

२—निःशुल्क शिक्षा की समस्या का हल इस आश्रम के द्वारा भली प्रकार हो सकता है। वानप्रस्थी ग्रामों के समीप जंगलों में रहें और गृहस्थियों के बालक उनसे विद्याध्ययन का लाभ उठायें। इस प्रकार से छोटे छोटे आश्रमों की व्यवस्था से शिक्षा का प्रचार होगा और मानव जाति की उन्नति होगी।

३—पारिवारिक झगड़ों की समस्या का भी पूर्णरूपेण हल हो जायेगा।

संन्यासाश्रम—वानप्रस्थाश्रम में भली प्रकार मनन तथा निदिध्यासन के द्वारा अपनी विद्या तथा अनुभव को सार्थक बनाकर और हृदय से सब प्रकार की मोह माया की जटिलता को छिन्न भिन्न करके लोकोपकारार्थ जो मनुष्य देश देशान्तर में घूमकर सद् विद्या का प्रचार करते हैं उन्हें संन्यासी कहते हैं। संन्यास त्याग-प्रधान आश्रम है। त्याग से अमृतपद की प्राप्ति होती है, यह वेद का मन्तव्य है। संन्यासी को लोकैषणा, पुत्रैषणा, और वित्तैषणा—तीनों का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। संन्यास का मुख्य प्रयोजन यह है कि मनुष्य को संसार से पृथक् होते हुए किंचित् मात्र भी कष्ट न हो। मनुष्य संसार में सदा रहने के लिए नहीं आया, इसका त्याग करना ही होगा। यदि नियमानुसार अपनी इच्छा से छोड़ेंगे, तो किसी प्रकार का दुःख न होगा। मृत्यु से पहले मृत्यु को जीतना संन्यासी का काम है। संसार की ममता को जो छोड़ देते हैं और लोकोपकार का कार्य करते हुए संसार में विचरते हैं, जिन्हें कोई मोह-माया, कोई प्रलोभन धर्म से च्युत नहीं कर सकता, उसे ही संन्यासी कहते हैं। वे ही वास्तव में जगद्गुरु और संसार के नेता होते हैं। ऐसे सच्चे दो-चार संन्यासी भी भूमण्डल को सुधारने की शक्ति रखते हैं और संसार से पाप की कालिमा को छिन्न-भिन्न कर सकते हैं।

वनेषु विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्थमायुषोभागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत्॥ मनु० ६-३३।

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ॥ ६-३८।
यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात्।
तस्य तेजोमयालोकाः भवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥ ६-३९।
नाभिनन्देत् मरणं नाभिनन्देत् जीवितम्।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा। म० ६-४५।

अर्थात् जो सब कामों को जीत लेवे, पवित्रात्मान्तः करण हो जाये, स्थिर-वृत्ति होकर परमेश्वर ही में अपनी भावना का समाधान करे और जो मृत्युञ्जय हो। वही श्रेष्ठ संन्यासी है

इस प्रकार से इस अध्याय के पढ़ने से पाठक इस परिणाम पर निर्विवाद पहुँचेंगे कि वैदिकधर्म का यह आश्रम-विभाग कितना युक्तियुक्त तथा वैज्ञानिक है। इस पर चलने से मनुष्य अपनी वैयक्तिक उन्नति करके, संसार के सुखों का अपने कर्मानुसार उपभोग करके अपने जीवन के अन्तिम लक्ष्य तक किस प्रकार पहुँच सकता है। यह संसार या इसके सुख परिणामी तथा अनित्य हैं। इनमें फँसकर मनुष्य अपने उद्देश्य से सर्वथा हीन होकर लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाता है। संसार भी साधन हैं। संसार के भोग भी साधन है। इसमें जो फँस जाता है, वह मूर्ख है। अतः उपर्युक्त विवेचन के अनुसार ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, बानप्रस्थ तथा संन्यासादि साधनों से अपने आपको पूर्णतया तैय्यार करके, अमर पद मुक्ति धाम को प्राप्त करना ही मनुष्य-जीवन का चरम लक्ष्य है।

षष्ठ अध्याय

वेद तथा वर्ण-विभाग

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहूराजन्यः कृतः।

उरूतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यांशूद्रोऽजायत॥ यजु० ३१-११।

ब्राह्मण इस विराट् समाज का मुखस्थानीय है। क्षत्रिय बाहू-समान है। जो वैश्य है, वह इसके मध्य देह के तुल्य है और शूद्र पैरों के समान है।

आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्। आराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्॥ दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वानाशुः सप्तिर्पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवाऽस्य यजमानस्य वीरो जायताम्॥ निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु। फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्॥ योगक्षेमो नः कल्पताम्।

यजु० २२-२२।

हे सर्व महान् भगवन्! हमारे राष्ट्र में ब्रह्म तेजयुक्त, ज्ञानदीप्ति सम्पन्न ब्राह्मण सब ओर से हों। और बहादुर, शस्त्रास्त्र संचालन में चतुर, दुष्टों को अत्यन्त उद्विग्न करनेवाला महारथी क्षत्रियवर्ग हो, तथा दूध देनेवाली गौएँ, भार उठाने

वाले बैल, शीघ्रगामी घोड़े आदि हों। इस यजमान का पुत्र जवान होकर सभाकार्य में निपुण, जयशील, रमणीय साधन से युक्त और वीर होवे। अपेक्षित समय पर हमारे लिए बादल बरसता रहे। हमारी ओषधियाँ, वनस्पतियाँ फलयुक्त रहें तथा हमारा योग-क्षेम भली प्रकार चले।

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचꣳ राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचारुचम् ॥ यजु० १८-४८।

अर्थात् "हमारे ब्राह्मणों में तेज रखो, हमारे क्षत्रियों में तेज रखो, हमारे वैश्यों और शूद्रों में तेज रखो तथा मेरे अंदर तेज से तेजस्विता रखो।"

ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत ब्रह्मकृण्वन्तः परिवत्सरीणम्।
अध्वर्यवो घर्मिणः सिष्विदाना आविर्भवन्ति गुह्या न केचित् ॥
ऋ० ७-१०-३-८।

(सोमिनः) सौम्य शांत (अध्वर्यवः) अहिंसायुक्त कर्म करनेवाले (सिष्विदानाः घर्मिणः) तपस्वी (ब्राह्मणासः) विद्वान् लोग (ब्रह्मपरिवत्सरीणं कृण्वन्तः) वेद को समग्र संसार में फैलानेवाले (गुह्या न केचित्) किसी प्रकार गुप्तता न रखते हुए (आविर्भवन्ति) बाहर आते हैं और (वाचं) वक्तृता (अक्रत) करते हैं। अर्थात् विश्व-भर में वेद-प्रचार के अभिलाषी विद्वान् शांत अहिंसाशील तपस्वी ब्राह्मण बाहर आकर उपदेश करते हैं, पक्षपात को छोड़कर, अन्दर कुछ बाहर कुछ, इस प्रकार न करते हुए, ठीक सत्य का मंडन और असत्य का खंडन करते हैं।

इमामिन्द्रवर्धय क्षत्रियं म इमं विशामेकवृषं कृणु त्वम् ।
निरमित्रानक्ष्णु ह्यस्य सर्वांस्तान रंधयास्मा अहमुत्तरेषु ॥
अथर्व० ४-२२-१ ।

हे (इन्द्र) प्रभो (इमं क्षत्रियं) इस क्षत्रिय को (वर्धय) बढ़ा। (त्वं) तू (इमं) इसको (मे विशां एक वृषं) मेरी प्रजाओं में अद्वितीय बलिष्ट (कृणु) कर (अस्य अमित्रान) इसके शत्रुओं को (निरक्ष्णुहि) निर्बल कर दे। (अहमुत्तरेषु) स्पर्धा के अन्दर (तान् सर्वान्) उन सब शत्रुओं को (रंधय) नाश कर।

चत्वारोवैवर्णाः ब्राह्मणो राजन्यो वैश्यः शूद्रः।
नहएतेषां एकश्चन भवति, यः सोमंवयति। स यद् ह एतेषां एकश्चन स्यात्, स्याद् ह एव प्रायश्चित्तिः।

शत० ५-५-४-९।

चार निश्चित वर्ण हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।

एतावद् वै इदं सर्वं, यावद् ब्रह्म क्षत्रं विट् शूद्रः।
मानव्यो हि एताः सर्वाः प्रजाः॥
(शत० १४-४-२-२७)। (शत० ४-२-२-१४) (तै० सं० ५-१-५)

इतना ही यह सब मनुष्य वर्ग है, जितना ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र है। ये सब प्रजायें निश्चय मनु की सन्तान हैं।

ब्रह्ममुखाः वै प्रजापतिः प्रजा असृजत (तै० सं० ५-२-७)
प्रजापतिर्वै मनुः। स हि इदं सर्वं अमनुत। ब्रह्म वै ब्राह्मणः
शत० ६-६-१-१९।

प्रजापति ने निश्चय से सब प्रजायें ब्रह्म प्रधान उत्पन्न कीं।

प्रजापति प्रसिद्ध मनु है। उसने ही यह सब वर्ण विभाग उचित समझा। ब्रह्म यहां निश्चय ब्राह्मण है।

इष्टापूर्तं वै ब्राह्मणस्य, युद्धंवैक्षत्रियस्य वीर्यम् (श० १३-१-५-६) आभ्यांहितौ उभौश्रियं अश्नुवाते

तदिदं उक्तं ऋषिणा—इदं मे ब्रह्म च क्षत्रंच उभेश्रियं अश्नुवाताम् (यजु० ३२-१६)

इष्ट और पूर्त ब्राह्मण का और युद्ध निश्चय क्षत्रिय का प्रधान बल है। उन दोनों में से ही वे दोनों ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं।

स विशम् असृजत। पुष्टिः वैविशः विशः पितरः।

(शत० १४-४-२-२४) (ऐ० आ० २-१-१)

उस प्रजा पति ने वैश्य को उत्पन्न किया। वैश्य निश्चय देश की समृद्धि है। वैश्य सब प्रजा के पालक हैं।

गणतः एव विशम् अवगच्छन्ति। मारुतो हि वैश्यः

(तै० सं० २. ३. १) (तै० ब्रा० २. ७. २)

गण से (पांच पांच सात सात के समूह से) ही वाणिज्य करने वाले को वैश्य मानते हैं। निःसन्देह मरुतों (वायु ओं) के कर्म वाला (एक देश के पदार्थों को दूसरे देश में पहुँचाने वाला) वैश्य है।

स शौद्रं वर्णम् असृजत (शत० १४४. २. ३५)

उस प्रजापति ने शूद्र वर्ण को उत्पन्न किया।

ब्रह्मणे ब्रह्मणं, क्षत्राय राजन्यं, मरुद्भ्यो वैश्यं, तपसे शूद्रम्।

(तै० ब्रा ३. ४. १)

वेदादि समस्त विद्याओं के लिये ब्राह्मण को, देश रक्षा के लिये क्षत्रिय को, एक देश के पदार्थ दूसरे में पहुँचाने के लिये वैश्य को, और शरीर साध्य शुश्रूषादि कर्मों से तपने के लिये शूद्र को उत्पन्न किया।

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥
प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥
पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेवच।
वणिक्पथं कुसीदंच वैश्यस्यकृषिमेव॥
एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषाऽनसूयया॥ मनु० १-९१।
यथेमां वाचं कल्याणीमावदानिजनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय स्वाय चार्याय चारणाय॥
यजु० २६. २।

अर्थात् जिस प्रकार मैं यह कल्याणकारक वचन (वेद) सबके लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के लिये घोषित करता हूँ।

प्रियं मां दर्भ कृणु ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्यायच।
यस्मै च कामयामहे सर्वस्मैच विपश्यते॥ अथर्व० १९-३२-८।

हे न्यायकारी ईश्वर मुझे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों का प्रिय बनाओ।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः। गीता।

अर्थात् गुण-कर्म के विभाग से मैंने चातुर्वर्ण की सृष्टि की है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि चातुर्वर्ण्यव्यवस्था का वर्णन वेदादि शास्त्रों में पाया जाता है। वेद से लेकर पुराण तक सब ग्रन्थों में चातुर्वर्ण विभाग का वर्णन है। अतः यह निश्चय है कि यह वैदिक धर्म का मौलिक सिद्धान्त है और यह अर्वाचीन नहीं। कई विद्वानों का कथन है कि वर्ण-विभाग अर्वाचीन है। परन्तु उनके कथन में सत्य का अंश भी नहीं है। क्योंकि ऊपर हम सप्रमाण इस बात को दर्शा चुके हैं कि वेदों, ब्राह्मणग्रन्थों, उपनिषदों, सूत्रग्रन्थों, रामायण, महाभारत तथा गीतादि माननीय ग्रन्थों में चातुर्वर्ण-विभाग का विशद वर्णन आता है, और समस्त मानव-जाति को चार हिस्सों में विभक्त किया गया है। इन चार वर्णों को छोड़ कर अन्य सब जाति उपजातियां अर्वाचीन हैं।

वर्ण विभाग की आवश्यकता अब हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वर्ण विभाग की आवश्यकता ही क्या है? मनुष्य जाति को अनेक विभागों में विभक्त कर अनेकता पैदा करने से क्या लाभ? इस प्रकार की अनेकता शान्ति को भङ्ग करने वाली होती है। परन्तु यदि गम्भीर दृष्टि से विचार किया जाय तो हमें मालूम होगा कि वर्ण-विभाग-व्यवस्था का आधार मनोवैज्ञानिक है। हम देखते हैं कि संसार में भिन्न २ प्रवृत्तियों

के व्यक्ति पाये जाते हैं। मानसिक विषमता स्वाभाविक है। इसे परिवर्तित करना असम्भव नहीं, तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। प्रायः देखा जाता है कि कुछ बालकों की प्रवृत्ति स्वभावतः तप, त्याग, सरलता, ज्ञानप्राप्ति इत्यादि की ओर होती है। इन्हें संसार के ऐश्वर्य तथा विषय वासना की तनिक भी चिन्ता नहीं होती। इन्हें अत्यन्त सात्विक वृत्ति का पुरुष कहा जा सकता है। सादा जीवन और ज्ञानप्राप्ति ही इनके जीवन का ध्येय होता है। संसार की तरफ़ इनकी सर्वथा ही अरुचि होती है। यदि ऐसे व्यक्तियों को युद्ध या धनादि उपार्जन करने के लिये व्यापार में लगा दिया जाये तो इन्हें सर्वथा असफलता होगी। यदि इन्हें मानव-जाति के लिये उपयोगी बनाना हो तो इनसे वही कार्य लेना चाहिये जिस तरफ़ इनकी प्रवृत्ति हो। इसी प्रकार कुछ बालक स्वभावतः क्षात्रगुणों को धारण किये होते हैं और कुछ बालक बचपन से ही व्यापारिक बुद्धि के धनी होते हैं। अपनी अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति (Natural tendency) के आधार पर यदि प्रत्येक मनुष्य को शिक्षित किया जाये और उसी कार्य में इन्हें लगाया जाये तो वे समाज तथा मानवजाति के लिये पूर्णतया उपयोगी हो सकते हैं। ब्राह्मण-वृत्ति-प्रधान पुरुष यदि किसी व्यापारिक मिल (concern) का प्रबन्धकर्त्ता बना दिया जाये तो वह कार्य अवश्यमेव असफल होगा। इसी प्रकार से यदि व्यापारिक बुद्धि के धनी पुरुष को ब्राह्मण का कार्य करना पड़े

तो भी असफलता ही होगी। इसलिये अपनी अपनी स्वाभाविक वृत्ति के अनुसार ही प्रत्येक व्यक्ति से कार्य लेना चाहिये तभी समाज का भला है, अन्यथा नहीं। इसी विभाग को वर्ण विभाग कहा जाता है। और यह वर्ण, शिक्षा की समाप्ति पर अपने शिष्यों की योग्यता तथा स्वाभाविक प्रवृत्ति को देखकर आचार्य निश्चित करता है। अर्थात् मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अनुसार उनको कार्य करने के लिये उत्तेजित करने की व्यवस्था को वर्ण व्यवस्था कहते हैं। और इसी कार्य में उनकी आजीविका का प्रबन्ध भी हो जाता है। स्वभावतः तप, त्याग, सदाचार, विद्याप्राप्ति, ज्ञानादि गुणों से युक्त मनुष्य को ब्राह्मण पदवी दी जाती है और उसका कार्य, समाज में ज्ञानादि का प्रचार करना है। इन्हें ही समाज का नेता माना जाता है। राष्ट्र में सदाचार धर्म तथा विद्या का प्रचार करना इनका मुख्य उद्देश्य है। इनका जीवन सादा होता है और समाज में इनकी सबसे अधिक प्रतिष्ठा होती है। जिनमें क्षात्रगुणों की प्रधानता होती है उन्हें क्षत्रिय कहा जाता है। इनका कार्य राष्ट्र की रक्षा करना है अर्थात् इनके द्वारा राष्ट्र का (Military and Police department) बनता है। प्रबन्ध करने (administration) का कार्य इनका होता है। परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिये कि अध्यापक, वकील, न्यायाधीश, मन्त्री इत्यादि के पद ब्राह्मणों के पास ही होंगे। जो मनुष्य व्यापारिक बुद्धि प्रधान हैं वे वैश्य कहलाते हैं।

देश की सम्पत्ति को वृद्धि और व्यापार को बढ़ती के ये उत्तम साधन होते हैं। इनका कार्य अन्य तीनों वर्णों की पालना करना है। इनका राष्ट्र में तीसरा दर्जा है। आदर्श वैदिक राष्ट्र में सरस्वती की प्रधानता है न कि लक्ष्मी की। और जो काला अक्षर भैंस बराबर है, जिनमें न विद्या है न बुद्धि है, न आत्मबल है और न व्यापारिक कुशलता है उन्हें शूद्र कहा है। परन्तु इस विभाग में नीचा किसी को भी नहीं माना गया। राष्ट्र के चारों ही आवश्यक अङ्ग हैं। एक के बिना भी, राष्ट्र अपूर्ण है। चारों में सहयोग है। जैसे कि शरीर में शिर, बाहु, उदर तथा पाँव इनकी समानता और पारस्परिक सहयोग और अन्योन्याश्रय है उसी प्रकार से राष्ट्र में भी इनका सहयोग आवश्यक है। छोटे-बड़े का भाव सर्वथा अवैदिक है। वैदिक काल में अछूत-नामक शब्द विशेष का अस्तित्व ही न था।

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते संभ्रातरो वावृधुः सौभगाय।
युवापिता स्वपारुद्र एषां सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः॥

ऋ० ५-६०-५।

अर्थात् इनमें कोई बड़ा नहीं, और न कोई छोटा है। इसलिए सब एक-जैसे भाई हैं। सब जीवों की समानता इस मंत्र ने बतायी है। ईश्वर के सामने छोटा या बड़ा कोई नहीं है। ये सब भाई उच्च होने के लिए मिलकर प्रयत्न करनेवाले हैं। अर्थात् यदि ये मिलकर पुरुषार्थ करेंगे, तभी ये उन्नत हो सकते हैं। इन सबका एक ही ईश्वर पिता है।

इसलिए यह बात पूर्णरूपेण सिद्ध है कि वैदिक वर्ण-विभाग मनोवैज्ञानिक तथा स्वाभाविक है। इसका लोप होने से ही समाज में अस्तव्यस्तता फैल सकती है और समाज के सर्वनाश होने की सम्भावना है। अपनी-अपनी प्रवृत्ति तथा योग्यता के अनुसार कार्य करने में ही शोभा है। इसके विरुद्ध कार्य करना भूल है।

वर्ण विभाग तथा समाज-संघटन

मानव-समाज में आजकल विचित्र अशान्ति है। पूँजीपतियों और श्रमजीवियों का कलह दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। हड़ताल तो एक साधारण-सी बात हो गयी है। बेकारी भी बढ़ती जा रही है। भारत में ही नहीं, यूरोप में भी आज लाखों नवयुवक बेकार घूम रहे हैं। राजनीतिक क्षेत्र में भी इधर विचित्र क्रान्ति हो रही है। यूरोपीय महाभारत के कारण कितने ही राजाओं के सिर से मुकुट ऐसे उड़ गये, जैसे पतझड़ में पत्ते। युद्ध के समय डंके की चोट से घोषित किया गया था कि यह युद्ध छोटे राष्ट्रों को स्वतन्त्र करने तथा युद्धवृत्ति को सर्वदा के लिए नाश करने के लिए किया जा रहा है। परन्तु लीग ऑफ़ नेशन्स के निर्माण और कैलाग, लोकार्नो इत्यादि के समझौतों के अनन्तर भी अभीष्ट सिद्ध नहीं हुआ। छोटे-छोटे राष्ट्र अब भी साम्राज्यवादियों की आँखों में खटक रहे हैं। रणचण्डिका की पिपासा इतने बड़े युद्ध के बाद भी शान्त नहीं हुई। अब भी अनेक राष्ट्र अपनी-अपनी सेना बढ़ाते

चले जा रहे हैं। उधर समाज की वर्त्तमान स्थिति से विक्षुब्ध होकर रूस ने 'बोल्शविज़्म' का रक्त-रंजित झण्डा अलग खड़ा कर रखा है। मानव-समाज एक जीर्ण रोगी के समान शय्या-शायी हुआ पड़ा है। अनेक राजनीतिज्ञ और समाज-शास्त्री भिन्न-भिन्न औषधियों का निर्देश कर कर रहे हैं, पर फिर भी रोग घटता हुआ दिखलाई नहीं देता। इन औषधियों से बाह्य उपद्रवों की थोड़ी-बहुत शान्ति चाहे हो जाय, परन्तु जब तक रोग का पूरा निदान न हो जायेगा, तब तक वह निर्मूल नहीं किया जा सकता। इसके लिए एक चतुर वैद्य की आवश्यकता है। आजकल बहुत-से विद्वानों ने समाज-संघटन के लिए भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। परन्तु जिस प्रकार से शरीर-विज्ञान (Physiology) से अनभिज्ञ मनुष्य वैद्य बनने का अधिकारी नहीं है, वह रोग का कभी भी ठीक निदान नहीं कर सकता, इसी प्रकार अध्यात्म तथा मानस-शास्त्र से अनभिज्ञ मनुष्य सच्चा समाज-शास्त्री नहीं हो सकता। वह समाज के रोग का सच्चा निदान नहीं कर सकता; क्योंकि समाज मनुष्यों का संगठित समूह है, और मनुष्य की कृति को हम तब तक ठीक-ठीक नहीं समझ सकते, जब तक हम मानस-विज्ञानों से परिचित न हों।

पहले हमें यह देखना है कि वर्ण-विभाग का आदर्श क्या है। वर्त्तमान पाश्चात्य विद्वानों का यह मत है कि वर्ण-विभाग का आधार रंग है। आर्य लोग गोरे थे और भारत के

आदिम-निवासी द्राविड़ लोग काले थे। अतः गोरे लोग द्विज कहलाये और काले वर्णवाले आदिमनिवासी शूद्र कहलाए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वर्ण का अर्थ रंग भी है। वर्ण धातु का अर्थ वर्णन करना है। वर्ण+अच् प्रत्यय मिलाकर 'वर्ण' शब्द बनता है। अतएव यह स्पष्ट है कि वर्ण शब्द का मूल अर्थ वर्णन करना है। श्री आपटे ने भी संस्कृत-कोष में वर्ण का अर्थ रंग के साथ Class, tribe, kind, species इत्यादि भी किया है। वर्ण वही है जिससे भिन्न-भिन्न मनुष्यों का वास्तविक वर्णन हो जाय। अब हमें देखना चाहिए कि शास्त्रों ने वर्ण-विभाग किस आधार पर किया है। क्या यह विभाग केवल रंग के आधार पर किया है? मनुस्मृति में लिखा है:—

लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्त्तयत्॥

अर्थात् लोकवृद्धि के लिए ब्रह्मा ने मुख, बाहु, जंघा और पैर से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की उत्पत्ति की। मुख-बाहु इत्यादि से उत्पत्ति का क्या तात्पर्य है। यह आगे स्पष्ट किया जायगा। परन्तु इस श्लोक से यह सिद्ध है कि वर्ण-विभाग केवल रंग के आधार पर नहीं हुआ। गीता का भी निम्नलिखित श्लोक प्रसिद्ध है—

चातुर्वर्ण्यं मयासृष्टं गुणकर्म विभागशः।
तस्यकर्त्तारमपि मांविद्ध्यकर्त्तारमव्ययम्॥

अर्थात् चारों वर्णों की सृष्टि गुण तथा कर्म के अनुकूल

हुई है। रंग के अनुकूल वर्ण-विभाग की कल्पना की पुष्टि गीता भी नहीं करती। रंग के लिये वर्ण के अतिरिक्त संस्कृत में राग और रक्त शब्द भी आते हैं। परन्तु इन शब्दों का जाति के लिये कभी प्रयोग नहीं होता। यदि जाति का आधार केवल रंग पर होता तो वर्ण के पर्यायवाची शब्द राग और रक्त भी इसके लिये अवश्य प्रयुक्त होते। ब्राह्मणादि शब्दों के धात्वर्थ भी कर्म के द्योतक हैं। जो ब्रह्म को जाने या अध्ययन करे वह ब्राह्मण है। जो हानि से बचावे वह क्षत्रिय है इत्यादि (क्षतात् त्रायते इति क्षत्रियः)। अब हमें इस बात पर विचार करना चाहिये कि वास्तव में वर्णव्यवस्था का क्या आधार है। वे कौनसे गुण हैं जिनका आधार वर्ण व्यवस्था है। यह जानने के लिये हमें मानव स्वभाव का अनुशीलन करना पड़ेगा। कुछ मनुष्य स्वभावतः ज्ञानप्रिय होते हैं, और उनमें सत्वगुण प्रधान होता है। कुछ लोगों को शक्ति अधिक प्रिय होती है, और उनमें रजोगुण प्रधान होता है। कुछ लोगों को लक्ष्मी अधिक प्रिय होती है उनमें थोड़ा रजोगुण और अधिकतर तमोगुण होता हैं। कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनकी केवल यही इच्छा रहती है कि पेट भर खाने को मिले और खूब शारीरिक आमोद प्रमोद में दिन कटें। इनमें प्रायः तमोगुण प्रधान होता है। इसी मनुष्य-स्वभाव के आधार पर मानव-समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन्हीं चार वर्णों में विभक्त किया गया था। संसार में किसी देश के मनुष्यों को ले लीजिये

यदि मनुष्य के स्वभाव और गुण को देखें तो मानव-समाज को हम केवल इन्हीं चार भागों में बाट सकते हैं। जैसे इन जातियों के गुण हैं वैसे इनके कर्त्तव्य भी हैं। ब्राह्मण का कर्त्तव्य ज्ञान-विस्तार है। अतएव संसार भर में जितने वैज्ञानिक, विद्वान, पण्डित, आचार्य न्यायाधीश इत्यादि हैं वे सब स्वभावतः ब्राह्मण वर्ग में आयेंगे। संसार भर में जितने बल, शक्ति इत्यादि के उपासक सैनिक इत्यादि हैं उनका स्थान स्वभावतः क्षत्रिय वर्ग में है। इसी प्रकार संसार भर के व्यापारी पूँजीपति इत्यादि स्वभावतः वैश्य वर्ण के हैं और जितने साधारण रूप से श्रमजीवी सेवक आदि हैं, जिनकी बुद्धि विकसित नहीं हुई है वे सब स्वभावतः शूद्र हैं। मानव स्वभाव तथा मानस शास्त्र ही वर्ण-विभाग का सच्चा आधार है। यदि मानव स्वभाव को देखें तो यह निर्विवाद सिद्ध है कि प्रत्येक मनुष्य की गणना उसके गुण कर्मानुसार इन्हीं चार विभागों के अन्तर्गत किसी एक विभाग में हो सकती है। प्रत्येक मनुष्य के स्वभाव में चारों प्रकार के गुण कुछ न कुछ मिलेंगे, किन्तु एक गुण की प्रधानता होगी और प्रधानता के अनुकूल ही वर्ण विभाग किया गया है। इस वर्ण विभाग से हमारे देश में समाज का बहुत ही सुन्दर संघठन हुआ था। पाश्चात्य समाज-शास्त्रवेत्ताओं ने एक उत्कृष्ट समाज की उपमा शरीर से दी है। शरीर का अंग प्रत्यंग उसका एक एक अवयव, उसकी प्रत्येक इन्द्रिय, केवल अपने लिये जीवित

नहीं है, उसका प्रत्येक अंग जो कुछ करता है वह केवल अपने लिये नहीं, बल्कि सारे शरीर के लिये। शरीर की पुष्टि से प्रत्येक अंग की पुष्टि है, शरीर की पुष्टि के लिये ही कार्य करने में प्रत्येक अङ्ग के जीवन का सारा महत्व और सार है; और सारे शरीर की पुष्टि से ही प्रत्येक अङ्ग की पुष्टि होसकती है। ठीक इसी प्रकार से समाज का भी सच्चा कल्याण तभी हो सकता है जब उसका प्रत्येक विभाग अपना नियमित कर्त्तव्य पालन करे। जब प्रत्येक विभाग अपना अपना निर्धारित कर्त्तव्य करेगा तभी समाज का भी कल्याण होगा और प्रत्येक व्यक्ति का भी पूर्ण विकास होगा। वेद तथा मनु ने ब्राह्मण की तुलना सिर से, क्षत्रिय की भुजा से, वैश्य की जंघा से और शूद्र की तुलना पैर से की है। इससे स्पष्ट है कि आज जो समाज का शरीरावयवात्मक मनोहर सिद्धान्त पाश्चात्य देशों में प्रतिपादित किया जारहा है, वह मनुस्मृति में पूर्णरूप से विद्यमान है। वर्ण व्यवस्था के अनुसार समाज में जैसा जिसका काम है वैसा ही उसका मूल्य भी है। ब्राह्मण का काम ज्ञान है, उसका मूल्य समाज आदर के रूप में देता है। हमारे समाज में एक सच्चे ब्राह्मण को राजा से भी अधिक आदर होता रहा है। क्षत्रिय का काम रक्षा तथा शासन करना है और उपहार स्वरूप समाज से उसे प्रभुत्व, आधिपत्य, गौरव मिलता है। वैश्य का कार्य कृषि, वाणिज्य, व्यापार इत्यादि है और उसे लक्ष्मी मिलती है। शूद्र की सेवावृत्ति है और उसे

यथोचित अन्न वस्त्र मिलता है और समाज उसके ऊपर विशेष उत्तरदायित्व नहीं रखता। आज कल समाज की विचित्रदशा है। अब भी लोगों के कार्य भिन्न भिन्न है, परन्तु सबका मूल्य केवक एक ही है-धन। चाहे कितना ही बड़ा ज्ञानी हो परन्तु यदि उसके पास धन नहीं तो समाज में उसका कोई स्थान नहीं। प्रत्येक व्यक्ति की स्थिति का महत्व रुपये आने पैसे में ही गिना जाता है। परिणाम यह हो रहा है कि प्रत्येक मनुष्य आदर, प्रभुत्व, धन इत्यादि सभी कुछ चाहता है। और बिना धन के वह कुछ भी नहीं कर सकता। प्रत्येक मनुष्य के जीवन का लक्ष्य धन के सिवा और कुछ नहीं रह गया है। इस धन लोलुपता के कारण ही चारों ओर कलह, विद्रोह, वैमनस्य हड़ताल इत्यदि दिखलाई पड़ता है। आज समाज संघठन की समस्या जटिल हो गई है। इस समस्या का हल करने के लिये पाश्चात्य देशों ने 'साम्यवाद' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। सम्भव है कि साम्यवाद से धन सम्पत्ति की विषमता बहुत कुछ अंशों में दूर हो, परन्तु इसके गर्भ में एक बड़ी भारी भ्रान्ति छिपी हुई है। साम्यवाद की दृष्टि में मनुष्य के जीवन का लक्ष्य केवल संपत्ति मात्र ही हो सकता है। यदि इसकी विषमता दूर कर दी जाये तो समाज में पूरी पूरी शान्ति स्थापित हो जायेगी। परन्तु क्या वास्तव में ऐसा हो सकेगा? क्या प्रत्येक मनुष्य सम्मान, शासन अधिकार प्रभुत्व भी बराबर बराबर नहीं चाहेगा। ये किस प्रकार बाँटे

जायेंगे ? इसका उत्तर केवल मनु के वर्ण-विभाग से ही मिलेगा। आहार-वस्त्र तो मनुष्य मात्र के लिये चाहिये, परन्तु जो ज्ञान प्रिय होते हैं उनकी सन्मान से ही सच्ची तृप्ति होती है। जो शासन प्रिय होते हैं, उन्हें प्रभुत्व और अधिकार भी मिलना चाहिये, जो व्यापार में लगे हुये हैं वे बिना धन के इसे नहीं चला सकते, जो श्रम जीवी हैं उनके लिये यथेष्ट आहार, वस्त्र और यथेष्ट अवकाश की आवश्यकता है। प्रत्येक का भिन्न भिन्न काम और जैसा काम वैसा दाम, यही समाज-संघठन का एक आदर्श सिद्धान्त हो सकता है।

यूनान के दार्शनिक प्लेटोका भी यही सिद्धान्त था। उसने समाज के तीन मुख्य विभाग किये थे। एक ज्ञानप्रिय लोगों का विभाग, यही समाज के सच्चे आचार्य, अध्यापक, नियामक, न्यायाधीश इत्यादि बन सकते हैं। दूसरे वह जिन में बल तथा साहस की प्रधानता है, ये समाज के रक्षक तथा सैनिक हैं। तीसरे वे जो व्यापार इत्यादि करते हैं। सेवक के लिये प्लेटो की समाज व्यवस्था में कोई स्थान न था। प्रत्येक मनुष्य का जीवन न्यायसंगत तभी हो सकता है जब उसका साहस ज्ञान से प्रेरित हो और उसकी वासनाएँ ज्ञान तथा साहस से नियन्त्रित हों। ऐसे ही समाज में भी सच्चा न्याय वही है, जिससे प्रत्येक विभाग अपना अपना निर्धारित कर्त्तव्य करे, और समाज के संचालक ज्ञानी हों। रक्षक, साहसी तथा बली सैनिक हों, और व्यापारी वही हों जो ज्ञान और साहस

के शासन को स्वीकार करते हों। प्लेटो की यह समाज-व्यवस्था केवल पुस्तकों में ही रह गई, वह कार्य रूप में परिणत न हो सकी। परन्तु यह स्पष्ट है कि यूरोप में भी ईसवी सन् के लगभग ५०० वर्ष पूर्व, एक दार्शनिक ने समाज का विभाग मानस-शास्त्र के आधार पर किया था।

जब से ब्राह्मणों ने पढ़ना पढ़ाना, ज्ञान का प्रचार तथा धर्म का सदुपदेश करना तो छोड़ दिया, और चाहने लगे कि सारा समाज उन्हें दान और सम्मान अवश्य दे, क्योंकि यह उनका नैसर्गिक अधिकार है। क्षत्रियों ने अपने बाहुबल से देश तथा धर्म को रक्षा करना छोड़ दिया, विलासप्रियता में लिप्त हो गये फिर और चाहने लगे थे कि प्रभुत्व उनके हाथ में रहे; उसी दिन से वर्णव्यवस्था अपने उच्च सिद्धान्त से गिरने लगी। और यह दुरवस्था विशेष कर इसी लिये घटित हुई कि लोग वर्ण को केवल जन्मसिद्धवस्तु समझने लगे, कर्त्तव्यसिद्ध नहीं। जिस प्रकार से वर्णव्यवस्था में कर्त्तव्य की ओर अधिक ध्यान दिया गया है उसी प्रकार सहयोग (Cooperation) वर्णव्यवस्था का उच्चतम आदर्श था। वर्त्तमान समाज तथा आधुनिक सभ्यता का सारा आधार प्रतिस्पर्धा (Competition) हो गया है। विद्या, व्यापार, जीविका, श्रम, सबमें प्रतिस्पर्धा का मलिन भाव फैला हुआ है। हमारा गृहस्थ जीवन भी इस विषैले भाव से कलुषित हो रहा है। पुरुष तथा स्त्री तक में प्रतिस्पर्धा का भाव पैदा हो गया है। कौन

कह सकता है कि इसका अन्त कहाँ जा कर होगा? हमारे ऋषियों ने समाज को चार वर्णों में बाँट कर यह बतलाया कि प्रत्येक वर्ण अपना अपना कार्य करे। प्रत्येक व्यक्ति को अपने वर्णधर्म का प्रतिपालन करना चाहिए।

साम्यवाद आर्थिक समस्याओं को सुलझानेका यत्न कर रहा है पर मनुष्य के जीवन का लक्ष्य केवल धनसम्पत्ति ही नहीं है। केवल धन के लिये ही, मनुष्य में आज चारों ओर कलहपूर्ण प्रतिस्पर्धा नहीं चल रही है। अधिकार, सम्मान इत्यादि और भी अनेक भाव मनुष्य के लिये आकर्षक तथा प्रेरक हैं। वर्ण-विभाग के सिद्धान्त में इन सब पर गवेषणापूर्ण विचार करके समाज संगठन का उत्तम आदर्श संसार के सन्मुख उपस्थित किया है। यह केवल आदर्श मात्र ही नहीं रहा है, बल्कि भारत में सैंकड़ों वर्षों तक वर्ण-विभाग के सिद्धान्त के ही आधार पर सारे समाज का कार्य चलता रहा। आजकल के समाज का आदर्श प्रतिस्पर्धा है। वर्ण-विभाग का आदर्श प्रतिस्पर्धा नहीं, सहयोग है। इस सहयोग में ही समाज का सच्चा कल्याण है। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आजकल समाज संघठन के जो बहुत से प्रश्न हैं उनके हल करने में वर्ण-विभाग के सिद्धान्तों से बहुत कुछ सहायता मिल सकती है।

क्या वर्ण-व्यवस्था का आधार जन्म है या गुण कर्म स्वभाव

अब इस प्रश्न पर विस्तार से विचार करने की आवश्यकता है कि वर्ण-विभाग का आधार जन्म है या गुण कर्म। उपरोक्त से यह स्पष्ट है कि वर्ण विभाग का आधार मनुष्य की स्वाभा-

विक प्रवृत्ति है, न कि जन्म। इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य के जीवन पर जन्म का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। परन्तु वर्ण-विभाग अधिकतर कर्त्तव्य कर्म की दृष्टि से ही किया गया था। इसमें सन्देह नहीं कि माता पिता के रज वीर्य का प्रभाव बालक पर पड़ता है। परन्तु कभी कभी यह भी देखने में आता है कि बालक की प्रवृत्तियाँ सर्वथा माता-पिता से भिन्न होती हैं। शास्त्रों में भी कर्म और आचरण के ऊपर अधिक ज़ोर दिया गया है।

न योनि र्नापि संस्कारो न श्रुतं न च सन्ततिः।
कारणानि द्विजत्वस्य वृत्तमेव तु कारणम् ॥

अर्थात् द्विज होने के लिये जन्म तथा संस्कार की प्रधानता नहीं है परन्तु आचार ही द्विजत्व का कारण है।

वेद के प्रमाण (१) कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।
नानाधियो वसूयवोऽनुगाइव तस्थिमेन्द्रायेन्द्रो
परिस्रव ॥ ऋग्वेद ९-११२-३।

(अहं कारुः) मैं कारीगर हूँ (ततः भिषक्) मेरा पति वैद्य है (नना उपलप्रक्षिणी) मेरी माता चक्की पीसती है। इस प्रकार (नानाधियः) हम नाना प्रकार की बुद्धि धारण करनेवाले हैं। (वसूयवः) परन्तु धन की इच्छा करने वाले हम सब अपने अपने कार्य का (अनुतस्थिम) अनुष्ठान करते हैं और (गा इव) जैसे भिन्न गौवें एकत्र रहती हैं, वैसे एक घर में रहते हैं।

(२) ब्राह्मणमद्य विदेयं पितृमन्तं पैतृमत्यमृषिमार्षेयꣳ सुधातु-
दक्षिणम्। अस्मद्‌दाता देवत्रागच्छत प्रदातारमाविशत्॥
य० ७-४६॥

(अद्य ब्राह्मणं विदेयम्) हम सब आज ब्राह्मण को प्राप्त करें। ब्राह्मण कौन है इसका उत्तर वेद देता है (पितृमन्तं) उत्तम पिता से उत्पन्न हुआ हो (पैतृमत्यं) जिसका पितामह अच्छा हो (आर्षेयं) ऋषियों का सब ज्ञान जिसने पढ़ा हो (ऋषिं) जो स्वयं दिव्य दृष्टि से युक्त हो (सुधातुदक्षिणं) इन्द्रिय-निग्रही ऊर्ध्वरेता हो।

मनुस्मृति
योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
सजीवन्नेव शूद्रत्व माशुगच्छति सान्वयः॥ २-१६२॥

जो द्विज वेद को न पढ़ कर अन्यत्र श्रम करता है वह इसी जन्म में शूद्र हो जाता है।

पृथस्तु विनयाद्राज्यं प्राप्तवान्मनुरेवच।
कुवेरश्च धनैश्वर्यं ब्राह्मण्यं चैव गाधिजः॥ ७-४२॥

अर्थात् विश्वमित्र ने इसी जन्म में क्षत्रिय होते हुये भी अपने तप के प्रभाव से ब्राह्मण पदवी को प्राप्त किया।

रामायण
जिस समय विश्वामित्र राजा दशरथ के दर्बार में आते हैं। तब महाराज उनका स्वागत करते हुए कहते हैं—

पात्र भूतोऽसि मेब्रह्मन् दिष्ट्या प्राप्तोऽसि मानद।
अद्य मे सफलं जन्म जीवितं च सुजीवितम्॥
यस्माद् विप्रेन्द्रमद्राक्षं सुप्रभाता निशा मम।

पूर्वं राजर्षि शब्देन तपसा द्योतितप्रभः ॥
ब्रह्मत्व मनुप्राप्तः पूज्योसि बहुधा मया ।
रामायण बालकाण्ड सर्ग १८ श्लोक ५३, ५४।

विश्वामित्र का स्वागत करते हुए राजा दशरथ उन्हें 'विप्रेंद्र' (ब्राह्मणश्रेष्ठ) सम्बोधित करते हुये स्पष्ट कहते हैं कि पहिले आप क्षत्रिय थे और अब ब्राह्मण हो गये हैं।

उपनिषद् जाबाली के पुत्र सत्यकाम ने अपनी माता से कहा, माँ ! मैं ब्रह्मचर्याश्रम ग्रहण करना चाहता हूँ। मुझे गोत्र का परिचय बतला दो। माता ने कहा "सा हैनमुवाच नाहमेतद् वेद तात। यद्गोत्रस्त्वमसि। बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे। साहमेतन्नवेद यद् गोत्रस्त्वमसि जबालातुनामाऽहमस्मि, सत्यकाम नाम त्वमसि। स सत्यकाम एव जाबालो ब्रुवीथा इति।" अर्थात् "प्यारे मैं यह नहीं जानती कि किस गोत्रवाला तू है। मैंने अनेक स्थानों में काम करनेवाली नौकरानी ने यौवन में तुझे पाया। इस कारण किस गोत्र वाला तू है, यह मैं नहीं जानती। जाबाला नामवाली तो मैं हूँ और सत्यकाम नाम तेरा है। सो जाबालसत्यकाम ही गुरु के पूछने पर कहना।" सत्यकाम गौतम हारिद्रुमत के पास गया और उनसे बोला, आर्य मैं ब्रह्मचारी बनना चाहता हूँ। क्या आपकी शरण में आ सकता हूँ। हारिद्रुमत ने पूछा कि वत्स किस गोत्र में जन्म लिया है। उसने उत्तर दिया कि आर्य ! मैं किस कुल का हूँ, यह नहीं जानता। मैंने अपनी माता

से पूछा तो उसने उपरोक्त उत्तर दिया। हारिद्रुमत ने कहा "तं होवाच नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति। समिधं सोम्या-हरोप त्वास्ये" सच्चे ब्राह्मण को छोड़ कर दूसरा कोई इस तरह अपने गुप्त भेद को नहीं बता सकता। जाओ कुशा लाओ मैं तुम्हें दीक्षा दूँगा।"

महाभारत

महाभारत शान्ति १८६ में भारद्वाज के प्रश्न करने पर भृगु उत्तर देते हैं।

ब्राह्मणः केनभवति क्षत्रियो वा द्विजोत्तम।
वैश्यः शूद्रश्च विप्रर्षे! तद्ब्रूहि वदतांवर ॥१॥

अर्थात् किन कर्मों से मनुष्य ब्राह्मण होता है। क्या करने सेक्षत्रिय और किस तरह के कार्यों से वैश्य और शूद्र होते हैं।

जातकर्मादिभिर्यस्तु संस्कारैः संस्कृतः शुचिः।
वेदाध्ययन संपन्नः षटसुकर्मस्ववस्थितः॥
शौचाचारस्थितः सम्यग्विघसाशी गुरुप्रियः।
नित्यव्रती सत्यपरः स वै ब्राह्मण उच्यते॥
सत्यं दान मथाद्रोह आनृशंस्यं त्रपा घृणा।
तपश्च दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृतिः॥ २. ४।

जो जातकर्मादि संस्कारों से संस्कृत हों, शुद्ध हों, वेद-पठन से सम्पन्न हों, शम-दमादि छहों कर्मों में स्थित हों, शुद्धा-चारयुक्त, अवशिष्ट यज्ञशेष का भक्षण करनेवाला हो, गुरु का प्रिय हो, नित्यवृत्तसम्पन्न, सत्यपरायण हो, वही ब्राह्मण होता है।

जहाँ सत्य, दान, अद्रोह, दया, लज्जा, दुष्टवस्तुओं से घृणा और तप देखा जाय वह ब्राह्मण कहलाता है।

क्षत्रजं सेवते कर्म वेदाध्ययन संयुतः।
दानादानरतिर्यस्तु सवै क्षत्रिय उच्यते॥

वेदाध्ययन के साथ जो वीरता के कार्य करे, दान करने तथा करादि लेने में रत हो, वह क्षत्रिय कहलाता है।

वणिज्या पशुरक्षा च कृष्या दानरतिःशुचिः।
वेदाध्ययन संपन्नः सवैश्य इति संज्ञितः॥

जो पशुओं के लिये कर्म में प्रवृत्त हो, कृषि द्वारा धन ग्रहण करे, शुद्ध होकर वेदाध्ययन करता रहे, वह वैश्य कहाता है।

सर्वभक्षरतिर्नित्यं सर्वकर्मकरोऽशुचिः।
त्यक्त वेदस्त्वनाचारः सवै शूद्र इति स्मृतः॥

जो सब कुछ बिना विवेक के खा जाय, सब प्रकार के कार्य करने में प्रवृत्त हो जाय, वेद का त्याग कर दे और आचार से हीन हो, वही शूद्र कहलाता है।

२ प्रहारे क्षत्रधर्मस्य यत्त्वं राम समाश्रितः।
ब्राह्मणः क्षत्रियत्वं हि याति शस्त्रसमुद्यमात्॥

महा० उद्योगपर्व १८०. १५।

हे राम! तुमने प्रहार करने में क्षात्र-धर्म का आश्रय ग्रहण किया है। क्योंकि शस्त्र धारण करने से ब्राह्मण क्षत्रिय हो जाता है।

३ विश्वामित्रेण च पुरा ब्राह्मण्यं प्राप्तमित्युत ।
श्रूयते वदसे तच्च दुष्प्रापमिति सत्तम ॥
वीतहव्यश्च नृपतिः श्रुतो मे विप्रतांगतः ॥
महा० अनुशासनपर्व अ. ३० श्लो. २. ३ ।

हे महाराज आपने ब्राह्मणत्व को बड़ादुष्प्राप्य बताया है। विश्वामित्र ने भी पहले काल में ब्राह्मणता प्राप्त की थी। हे पितामह! वीतहव्य-नामक राजा ने भी ब्राह्मणत्व को प्राप्त किया था।

४ राजन् कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन श्रुतेनवा ।
ब्राह्मण्यं केन भवति प्रब्रूह्येतत् सुनिश्चितम् ॥ १०५ ॥

हे राजन्! ब्राह्मणता किस प्रकार प्राप्त होती है। क्या कुल से, शील से, स्वाध्याय से या गुरू से पढ़ने से। यह ठीक निश्चय से मुझे बताइए।

युधिष्ठिर उवाच—

शृणुयक्ष कुलंतात न स्वाध्यायो न च श्रुतम् ।
कारणं हि द्विजत्वे च वृत्त मेव न संशयः ॥
वृत्ते यत्नेन संरक्ष्यं ब्राह्मणेन विशेषतः ।
अक्षीणवृत्तो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतोहतः ॥
पठका पाठकाश्चैव येचान्ये शास्त्रचिन्तकाः ।
सर्वे व्यसनिनो मूर्खाः यः क्रियावान् स पण्डितः ॥
चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः न शूद्रादतिरिच्यते ।
योऽग्निहोत्रपरोदान्तः स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥
महा० वनपर्व, यक्षयुधिष्ठिर संवाद ३१२. १०५–१०९ ।

हे यक्ष! न कुल, न स्वाध्याय और ना ही गुरुमुख से अध्ययन द्विजत्व में कारण होता हैं। परन्तु एकमात्र शील ही कारण होता है, इसमें कोई संशय नहीं। वृत्त की रक्षा, विशेष कर ब्राह्मण को बड़े प्रयत्न से करनी चाहिए। जिसका वृत्त नष्ट नहीं हुआ वह नष्ट नहीं होता। परन्तु जिसका शील नष्ट हो जाता है, वह नष्ट हो जाता हैं। पढ़नेवाले और पढ़ानेवाले जो भी शास्त्रों की चिन्ता करते हैं, वे सब व्यसन में पड़े हुए मूर्ख होते हैं। परन्तु जो क्रियावान् धर्मतत्पर हो, वही पण्डित होता है। चारों वेदों का ज्ञाता भी यदि दुराचारी है तो वह शूद्र से अधिक नहीं। परन्तु जो नियमपूर्वक अग्निहोत्र करनेवाला, और इन्द्रियों को दमन करनेवाला होता है, वह ब्राह्मण होता है। इन सभी प्रकारणों से ज्ञात होता है कि प्राचीन महाभारत काल में भी वर्णव्यवस्था का निर्णय गुणकर्मस्वभाव से होता था।

पुराणों में वर्णव्यवस्था का स्वरूप

ऋषयः ऊचुः—
भो ब्रह्मन्नादिकल्पे हि ब्राह्मण्यं ब्रूहि किं भवेत्।
जात्यध्ययन देहात्म संस्काराधार कर्मणाम्॥
भविष्यपुराण ब्राह्मपर्व १ अध्याय४० श्लो। ८।

पुरुषाऽनुगता जातिर्ब्राह्मणत्वादिकास्ति चेत्।
द्विवर्णे जातिभेदेन प्रत्यक्षार्थोपलक्षणात्॥ १९॥

हे ब्रह्मा जी! आदि कल्प में ब्राह्मणादि की व्यवस्था कैसे होती है। क्या जाति अर्थात् जन्म से ब्राह्मण होता है या

पढ़ने से। या देह या आत्मा या संस्कार या आचार या कर्म से ब्राह्मण होता है।

गोवर्गमध्यंच गतो यथाऽश्वो निर्धार्यते ज्ञैः सुविचक्षणत्वात्।
मनुष्यभावादविशिष्यमानस्तद्वद्द्विजः शूद्रगणान्नभिन्नः ॥२०॥
मनुष्यजातेर्न परो विशेषो यः कल्प्यते सर्वनरानुयायी।
संस्कारयुक्ताहि क्रियाविशिष्टा द्विजन्मनांशूद्रविवेकहेतुः॥ २१॥
तस्मान्न गोऽश्ववत् कश्चिज्जातिभेदोऽस्तिदेहिनाम्।
कार्यशक्तिनिमित्तस्तु संकेतः कृत्रिमो भवेत्॥ ३४॥

ब्राह्मपर्व १ अ० ४०।

अर्थात् यदि ब्राह्मणत्वादि जाति पुरुष के साथ हो तो दो वर्णों की जाति भेद से प्रत्यक्ष प्रतीति हो। गौवों के समूह में खड़ा हुआ घोड़ा जैसे बुद्धिमानों से पहचाना जाता है वैसे शूद्रों के समूह में ब्राह्मणादि भिन्न रूप से नहीं पहचाना जा सकता। क्योंकि सबमें मनुष्यत्व जाति एक होने से कोई विशेषता नहीं है। इसलिये मनुष्यों में गौ घोड़े की तरह से कोई जाति भेद नहीं है। कर्म करने की शक्ति के कारण से ही नैमितिक संकेत हो सकता है। अर्थात् ब्राह्मणादि कर्मों की पहिचान कर्म से होती है।

२ हरिणीगर्भसंभूतः ऋष्यश्रृंगोमहामुनिः।
तपसा ब्राह्मणोजातः संस्कारस्तेन कारणम्॥ २६॥
श्वपाकीगर्भसंभूतः पिता व्यासस्य पार्थिवः।
तपसा ब्राह्मणोजातः संस्कारस्तेनकारणम॥ २७॥

गणिकागर्भसंभूतो वसिष्ठश्च महामुनिः ।
तपसा ब्राह्मणोजातः संस्कारस्तेनकारणम् ॥ २८ ॥
नाविकागर्भसंभूतो मन्दपालो महामुनिः ।
तपसा ब्राह्मणोजातः संस्कारस्तेन कारणम् ॥ २९ ॥
वेदतन्त्रज संस्कारकलापनिपुणैरपि ।
विद्यातपोधन बलादुत्कृष्टं लभ्यते फलम् ॥ ३० ॥
लब्धसंस्कारदेहाश्च महापातकिनोनराः ।
यस्मान्निवर्त्तते ब्रह्म तस्मात् सांकेतिकं विदुः ॥ ३१ ॥
भविष्य पुराण, ब्राह्मपर्व १ अ० ४२ ॥

वसिष्ठ वैश्या के पुत्र थे। मुनिश्रेष्ठ मन्दपाल नाविका के पुत्र कहे जाते हैं। व्यास मल्लाह की पुत्री से तथा पराशर श्वपाकी के पेट से उत्पन्न हुये। ये सब तप से ब्राह्मण बन गये। क्या इसमें संस्कार कारण है? वेदशास्त्र के अनुसार संस्कारसमूह के जाननेवाले निपुण भी विद्या, तप तथा धन और बल से उत्तम फल को प्राप्त होते हैं। जिनकी देह का पूर्णरूप से संस्कार हुआ होवे और यदि महापातकी हों, तो वह ब्राह्मण नहीं रह सकते। इसलिये ब्राह्मणता कर्मानुसार सांकेतिक ही कही जा सकती है।

३ मिश्रदेशोद्भवाः म्लेच्छाः काश्यपेनैवशासिताः ।
संस्कृताः शूद्रवर्णेन ब्रह्मवर्णमुपागता ॥ ७२ ॥
शिखा सूत्रं समाधाय पठित्वावेदमुत्तमम् ।
यज्ञैश्च पूजयामासु र्देवदेवं शचीपतिम् ॥ ७३ ॥
भविष्य पुराण प्रतिसर्ग पर्व ३ खण्ड ४ अ. २०॥

मिश्रदेश में उत्पन्न हुए म्लेच्छों पर कश्यप के पुत्र कण्व ने शासन किया। शूद्रवर्ण से संस्कार किये हुए ब्राह्मण वर्ण को प्राप्त हो गए। चोटी तथा यज्ञोपवीत को धारण करके और उत्तम वेद को पढ़ कर यज्ञों द्वारा, देवताओं में उत्तम-शची के पति इन्द्र की पूजा की।

४ विश्वामित्रो गाधिसुतस्तपसैवमहामुने !
क्षत्रियोऽथाभवद्विप्रो प्रसिद्धं त्रिभुवनेष्विदम् ॥ ५३ ॥
शिवपुराण उमासंहिता ५ अ. १२॥

हे महामुने ! गाधि का पुत्र विश्वामित्र क्षत्रिय होते हुए तप से ही ब्राह्मण बन गया। यह बात तीनों लोकों में प्रसिद्ध है।

४ नाभागो दिष्टपुत्रोऽभूत्स तु ब्राह्मणतांगतः।
स्वक्षत्रवंशं संस्थाप्य ब्रह्मकर्मभिरावृतः ॥ ४८ ॥
धृष्टाद्धार्ष्टमभूत्क्षत्रं ब्रह्मभूयं गतंक्षितौ ॥ ४९ ॥
शिवपुराण उमासंहिता ५. अ, ३६॥

नाभागदिष्ट के पुत्र हुए और ब्राह्मणत्व को प्राप्त हुए। अपने क्षत्रिय वंश को स्थापित करके ब्राह्मण के कर्मों में प्रवृत्त हुए। धृष्ट से धार्ष्ट हुए। वे पहले क्षत्रिय थे फिर पृथिवी पर ब्राह्मण बन गए।

६ रुद्राक्षं यस्यगात्रेषु ललाटे तु त्रिपुंड्रकम्।
सचाण्डालो ऽपि संपूज्यो वर्णोवर्णोत्तमोत्तमः ॥ ६२ ॥
शिवपुराण विद्येश्वर संहिता १ अ. २४॥

जिसके शरीर पर रुद्राक्ष हो और मस्तक में त्रिपुण्ड्रक-

भस्म हो, वह चाण्डाल भी पूजा के योग्य है और वर्णों में उत्तम वर्ण अर्थात् ब्राह्मण है। इस प्रकार रामायण, स्मृति तथा पुराणादि के प्रमाणों से यह बात सर्वथा स्पष्ट हो गई कि वर्ण-विभाग का आधार गुणकर्मानुसार है न कि जन्मानुसार।

लोक में भी हम देखते हैं कि सोने का कार्य करनेवाले को 'सुनार' तैल का कार्य करनेवाले 'तेली, लोहे का कार्य करनेवाले लुहार और कलाल का कार्य करनेवाले कलाल कहलाते हैं।

इस पर यह शङ्का होती है कि "यदि गुणकर्म से ही वर्ण माना जाय तो पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में तथा मनुस्मृति के अ. २. ३०.–३२. श्लोक में मनुभगवान् ने लिखा है कि उत्पन्न हुए बालक का दसवें या बारहवें दिन पिता नामकरण करे, जिसमें ब्राह्मण का शर्मान्त, क्षत्रिय का वर्मान्त इत्यादि नाम रखा जाय। स्वामी दयानन्द जी ने भी इस नामकरण का संस्कार विधि में इसी रूप से उल्लेख किया है। अब यह प्रश्न पैदा होता है कि १० या १२ दिनों में उस अज्ञात बालक में किस गुण कर्म का अनुभव कर सकेंगे जिससे कि ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य के अनुकूल उसका नामकरण किया जाय? इसका उत्तर यह है कि शर्मा, वर्मा, गुप्त इत्यादि संकेत माता पिता के वर्ण प्रदर्शन का हेतु है अर्थात् लोग उसके नाम से जाने कि यह ब्राह्मण का पुत्र है। यह जीवन पर्यन्त

के लिए रजिष्ट्री नहीं हो जाता । यह समावर्त्तन संस्कार के समय स्पष्ट कर देना चाहिए; क्योंकि इसके बदले उसके योग्यतानुसार गुरुकुल से उपाधि मिलती है। स्वामी दयानन्द ने भी इसी प्रयोजन को लेकर लिखा है क्योंकि जब ब्रह्मचर्याश्रम में वर्णव्यवस्था नहीं तो इसके उल्लेख से यही तात्पर्य प्रतीत होता है कि इस का प्रयोजन यही है कि जब तक उसके वर्ण का अनुसन्धान न हो 'शर्मा से' लोग केवल ब्राह्मण पुत्र जाने।

(प्रश्न) इसी प्रकार याज्ञवल्क्यस्मृति आचाराध्याय श्लोक १४ में—

गर्भाष्टमेऽष्टमे वाब्दे ब्राह्मणस्योपनयनम् ।
राज्ञामेकादशैके विशामेके यथाकुलम् ॥

अर्थात् गर्भ से अथवा जन्म से ८ वें वर्ष में ब्राह्मण का, ११वें में क्षत्रिय का, १२वें में वैश्य का यज्ञोपवीत करने का आदेश किया है। वहां ८ वें वर्ष के अन्दर किस प्रकार उसके गुण कर्मों द्वारा उसका जाति निर्णय होगा।

(उत्तर) इसमें यज्ञोपवीत कराने के लिये ब्राह्मण को आदेश किया गया है न कि स्वयं बच्चे को। इसलिये यहां ब्राह्मण क्षत्रियादि शब्द माता-पिता के लिये संकेत है। इसी बात को मनुभगवान ने और भी स्पष्ट किया है।

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यो विप्रस्यपंचमे ।
राज्ञोबलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्यार्थिनोऽष्टमे ॥

ब्राह्मणत्व की कामना करने वाले (उसके माता पिता जो

गुण कर्म से ब्राह्मण हैं) को अपने पुत्र का संस्कार अर्थात् वेदारम्भ पाँचवें वर्ष करना चाहिये। बल की कामना करने वाले को छठे और वैश्य के अर्थ में आठवें में। यदि जन्म की बात होती तो फिर कामना शब्द क्यों प्रयुक्त होता। इसी से स्पष्ट है कि वर्ण के निर्णय में कर्म प्रधान कारण है। उधर इच्छा शब्द से यह भी स्पष्ट है कि यदि वैश्य या क्षत्रिय भी अपने पुत्र को ब्राह्मण बनाना चाहें तो वैसी शिक्षा देकर बना सकते हैं। इससे यह भी स्पष्ट होजाता है कि शर्मादि नाम जहां पिता के वर्ण के संकेत हैं वहां उनसे यह भी सिद्ध होता है कि इससे बालक तथा आचार्य को यह सदा ध्यान में रहेगा कि बालक ने क्या बनना है। ताकि उसी दिशा में उसकी प्रवृत्तियों को उत्तेजित किया जाय।

जन्म से जाति मानने पर यह भी प्रश्न पैदा होता है कि यदि कोई ब्राह्मण ईसाई या मुसलमान होजाय तो उसका ब्राह्मणत्व कायम रहेगा या नहीं। तो क्या उसे मुसलमान ब्राह्मण कहेंगे?

इस प्रकार से इस अध्याय में हमने वर्ण-व्यवस्था की आवश्यकता तथा उसके स्वरूप पर विचार करते हुये वर्ण-विभाग के वर्त्तमान स्वरूप पर भी प्रकाश डाला है। उपरोक्त के पठन से यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि वर्णव्यवस्था का असली स्वरूप वही है जिसे वेदादि सच्छास्त्रों के प्रमाण पर ऋषि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में प्रतिपादित किया है।

सप्तम अध्याय

पुनर्जन्म

कतिपय पाश्चात्य विद्वानों का यह कथन है कि पुनर्जन्म का सिद्धान्त यद्यपि उपनिषदों तथा स्मृतियों में पाया जाता है परन्तु वेद में इस सिद्धान्त के प्रतिपादक मन्त्र नहीं है। यह वैदिक सिद्धान्त नहीं माना जा सकता। मि० मोनियर विलियम् एम० ए० सी० आई० ई०, जो कि योरुप के प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् हैं अपनी Religious thought and life in India-नामक पुस्तक में लिखते हैं कि "The doctrine of matempsychesis or Transmigration of souls, which became an essential characteristic of Brahmanism and Hinduism in later times has no plece in the religion of the Vedas."

अर्थात् "पुनर्जन्म का सिद्धान्त, जो कि ब्राह्मणधर्म तथा हिन्दू धर्म का एक विशेष अङ्ग है, वैदिक धर्म में अपनी कोई सत्ता नहीं रखता।" परन्तु हमारी सम्मति में पुनर्जन्म का सिद्धान्त पूर्णरूपेण वैदिक है। यह वैदिक धर्म के आधार

भूतसिद्धान्तों (Fundamental Principles) में मुख्य माना गया है। मनु महाराज अपनी स्मृति में प्रतिपादित पुनर्जन्म के सिद्धान्त को वेदानुकूल मानते हैं। इसलिए इस समय हमें यह विचार करना है कि वास्तव में पुनर्जन्म का सिद्धान्त वैदिक है या इसकी उत्पत्ति ब्राह्मण काल या उपनिषद् काल में हुई।

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसानः आवरीवर्ति भुवनेष्वन्तः॥
अथर्व० ९-११-११॥

(आचपराच) आने और जाने के (पथिभिः चरन्तम्) मार्गों के द्वारा भ्रमण करने वाले (म-नि पद्यमानं) अविनाशी (गोपां) इन्द्रिय स्वामी को (अपश्यं) मैंने देखा है। (सः) वह (सध्रीचीः) शरीर के साथ भी चलने वाला है और (वि-सू-चीः) अलग होकर भी चलने वाला है। (वसानः) वह मूल का निवासक (भुवनेषु अन्तः) भुवनों के अन्दर (आवरीवर्ति) बारम्बार आता है। अथवा (सः सध्रीचीः विषूचीः वसानः) वह सीधी और टेढ़ी चालें चलता अर्थात् पुण्य पाप करता हुआ (भुवनेषु अन्तः आ-वरीवर्त्ति) संसार में पुनः पुनः लौटता है, जन्म मरण के वश में होता है। अर्थात् जीवात्मा अनेक मार्गों द्वारा शरीर में आता है और शरीर से पृथक् होता है। वह अविनाशी और इन्द्रियों का रक्षक है। ऐसा उसको जानना चाहिये वह शरीर के साथ भी रहता है और शरीर को छोड़कर भी रहता है। वह इन भुवनों में बारम्वार आता है।

इस मन्त्र में 'आच परा च पथिभिश्चरन्तम्' तथा 'आवरीवर्ति भुवनेष्वन्तः' ये दो विशेषण जीवात्मा के पुनः पुनः जन्मलेने या पुनर्जन्म के सिद्धान्त के स्पष्ट प्रतिपादन करने वाले हैं।

अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा।
यदा त्वं प्राण जिन्वस्यथ स जायते पुनः ॥ अथर्व ११-४-१४।

(पुरुषः) मनुष्य (गर्भे अन्तरा) गर्भ के अन्दर (प्राणति) श्वास लेता है और (अपानति) उछ्वास छोड़ता है। हे प्राण! जब (जिन्वसि) प्रेरणा देता है (अथ) तब ही (सः) वह (पुनः) फिर (जायते) पैदा होता है।

इस मंत्र में 'सः पुनः जायते' यह पद स्पष्टरूप से पुनर्जन्म का प्रतिपादक है।

अपाङ् प्राङेति स्वधयागृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येनासयोनिः।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यन्यं चिक्युर्न निचिक्युरन्यम् ॥
ऋः १. १६४. ३८ ॥

(अमर्त्यः) अमरणधर्मा यह नित्य आत्मा (मर्त्येन) मरणधर्मा भौतिक देह के साथ (सयोनिः) एकस्थान में रहने वाला होता है, एवं भूनात्मा (स्वधया) अन्नोपलक्षित भोग से (गृभीतः) गृहीत होता है (अपाङ् एति) अशुभ कर्म करके नीचे जाता है (प्राङ् एति) शुभ करके ऊपर आता है (ता) वे शरीर और आत्मा दोनों (शश्वन्ता) सर्वदा विभाग पूर्वक वर्त्तमान रहते हैं (विषूचीनाः) लोक में सर्वत्र गमन करनेवाले

(वियन्ता) तत्कर्म फल भोग के लिए लोकान्तर में गमन करते रहते हैं। मननशील मनुष्य भूतात्मा को शरीरादि से (अन्यम्) भिन्न (निचिक्युः) मानते हैं। कई लोग जीवात्मा को शरीरादि से (अन्यम्) व्यतिरिक्त (ननिचिक्युः) नहीं मानते हैं। यह मन्त्र अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में पुनर्जन्म का प्रतिपादन कर रहा है।

अनच्छये तुरगातु जीवमेजद्‌ध्रुवं मध्य आपस्त्यानाम्।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ॥
ऋ० १-१६४-३० ॥

परमेश्वर (पस्त्यानाम्) शरीरों के (मध्ये) बीच में रहने वाले (ध्रुवम्) अविनाशी (तुरगातु) शीघ्रगतिवाले (जीवम्) जीव को गति देता हुआ तथा (अनत्) प्राणशक्ति संपन्न करता हुआ (शये) रहता है। (मृतस्य अमर्त्यजीवः) मृत का न मरने वाला जीव (स्वधाभिः) अपने गुण तथा पाप कर्मों के कारण (मर्त्येन सयोनिः) मरण धर्मा शरीर के साथ समान स्थान वाला होकर, जगत् में (आचरति) बार बार आता है। अर्थात् जीवात्मा नित्य है, किन्तु देह अनित्य है। भले बुरे कर्मों के कारण इसे बार बार इस संसार में आना पड़ता है। इस प्रकार इन प्रमाणों के आधार पर यह अत्यन्त स्पष्ट है कि पुनर्जन्म का सिद्धान्त वैदिक सिद्धान्त है, और इसका बड़े स्पष्ट शब्दों में वेद में प्रतिपादन किया गया है।

पुनर्जन्म के सिद्धान्त की प्राचीनता

वेद संसार की सबसे पुरानी पस्तक है। वेद से लेकर सारे वैदिक साहित्य में पुनर्जन्म के सिद्धांत के प्रतिपादक सैकड़ों मन्त्र उपलब्ध होते हैं।

परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि भारत को छोड़कर अन्य देशीय विद्वान् भी इस सिद्धान्त को पूर्ण रूप से मानते हैं। पेट्री नामक विद्वान् अपनी पुस्तक Personal religion before Christianity में लिखता है कि ईजिप्ट निवासियों की धर्म पुस्तक 'The Book of the dead' में पुनर्जन्म के सिद्धान्त को उसी रूप में स्वीकार किया गया है जिस रूप में भारत में इस का प्रचार है। परशियन्स की ज़िन्दावस्था में यह अत्यन्त स्पष्ट रूप में पाया जाता है।

"To reject the old Frame and assume a new body is inevitable" Hoshong. अर्थात् पुराने शरीर को छोड़कर, नवीन शरीर धारण करना अनिवार्य है।

"Every man finds a place in the heavens and the stars, according to his knowlege and actions and always lives there (66). And he who wishes to go into the world, and has done good deeds, is born as a king, minister, ruler or a richman (67). So that he may reach the fruits ot his deeds (78). According to the Prophet Bashadabad those griefs, troubles and diseases, which befall kings during their enjoyments are due to the evil deeds of *previous birth* (69). Nawa Mihabad.

अर्थात् प्रत्येक मनुष्य अपने ज्ञान तथा कर्मों के अनुसार सूर्य चन्द्र आदि में जन्म लेता है, और वहाँ रहता है। जो संसार में जाना चाहता है और अच्छे कर्म करता है वह राजा मन्त्री, शासक या धनी के रूप में पैदा होता है, ताकि वह अपने कर्मों का फल भोग सके। पैगम्बर बशादाबाद के अनुसार दुःख तथा बीमारियाँ अपने पूर्वजन्म के कर्मों के कारण होती हैं। इस पर टीका करते हुए Sasan V लिखता है कि—

"They reach the good results of their good deeds and suffer pains for their evil deeds. Your God can not be just, if he does not punish evil deeds or punishes them inadequately."

अर्थात् उन्हें अच्छे कर्मों का अच्छा फल और बुरे कर्मों का बुरा फल मिलता है। यदि परमात्मा ऐसा न करे तो वह अन्यायकारी होगा।

सूफ़ी मुसलमानों में जलालुद्दीन रूमी के लेखों में पुनर्जन्म के सिद्धान्त की झलक पाई जाती है। रोम में सिसरो तथा वर्जिल की कविताओं में इसका आभास स्पष्ट दिखाई देता है। पुराने केलाडियन (Chaldian) लोग भी पुनर्जन्म मानते थे। पुराने चीन में भी पुनर्जन्म को माना जाता था, यद्यपि यह रहस्य प्रत्येक को नहीं बताया जाता था। तथापि उन थोड़े लोगों के लिए सुरक्षित था, जिन्होंने कि विशेष अवस्था तक आत्मिक उन्नति की हो। उनका विचार था

कि मौत एक नवीन जीवन का प्रारम्भ है। प्राचीन ब्रिटेन में ड्रूइडस् (Druid) इस सिद्धान्त के प्रचारक थे। जूलियस सीज़र लिखता है कि गाल (Gaul) के लोगों का विश्वास है कि मृत्यु होने पर आत्मा नहीं मरता, किन्तु किसी अन्य शरीर में चला जाता है और इसीलिए वे लोग मृत्यु की पर्वाह नहीं करते। डा० पास्कल अपनी पुस्तक Re-in-Carnation में लिखता है कि कुछ काल पहले तक ब्रिटेन के कुछ भागों में जो आधुनिक सभ्यता के प्रभाव से बचे हुए थे, पुनर्जन्म पर विश्वास किया जाता थ।

यह बात इतिहास सम्मत है कि पुनर्जन्म का विचार आर्यों से मिश्र में गया। हिरोडोटस के अनुसार आत्मा तीन हज़ार वर्ष तक पशुओं में घूम कर फिर इन्सान के शरीर में आ जाती है। इसी लिए ये लोग अपने सम्बन्धियों के मृतक शरीरों को सुरक्षित रखते थे।

"The Egyptians, renowned for their wisdom prolonged the duration of eorpses, that the existence of the soul, attached to that of the body might be preserved and might not pass away quickly to others. The Romans on the contrary, burn corpses. So that the soul resuming its liberty, might immediately reenter nature."

ग्रीक-तत्त्ववेत्ता पाइथेगोरस ने भी मिश्र से ही इस सिद्धान्तको सीखा था। इनका विश्वास था कि नीच कार्य करते से आत्मा पशुयोनि में चला जाता है। इसी लिए पाइथेगोरस अपने शिष्यों को मांस खाने से मना किया करता था।

एम्पीडाक्लस भी इसी सिद्धान्त को मानता था।

"I, too, have been a young maiden
A tree, a bird, a mute fish in the seas."

ग्रीक तत्ववेत्ता प्लेटो लिखता है—

"Cowards are changed into women, vain and frivolous men into birds, the ignorant into wild beasts, lower in kind and crawling upon the earth in proportion as their idleness has been more degrading, stained and corrupt souls animate fishes and aquatic reptiles."— "Those who have abandened themselves to intemperance and gluttony enter inte the bodies of animals with like propensities. They who have loved injustice, cruelty and rapine assme the bodies of wolves, hawks and felons. The destiny of souls has relation to the lives which they have led."

अर्थात् डरपोक पुरुष, औरतें बनती हैं। अभिमानी तथा

तुच्छ पक्षी, अज्ञानी जंगली जानवर, व्यभिचारी जलजन्तु बनते हैं। जो अनियमित जीवन बिताते हैं वे जानवर बनते हैं। जो अन्यायी हैं, क्रूर हैं, वे भेड़िये इत्यादि जानवरों की योनियों में जाते हैं। आत्मा अपने अपने कर्मों के अनुसार अवश्य फल पाती है।

भगवान् मनु लिखते हैं कि—

शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम्॥ मनु०

जो नर शरीर से चोरी, परस्त्री गमन, श्रेष्ठों को मारने आदि दुष्ट कर्म करता है उसको वृक्षादि स्थावर का जन्म, वाणी से किये पाप कर्मों से पक्षी और मृगादि तथा मन से किये दुष्ट कर्मों से चाण्डालादि का शरीर मिलता है।

स्थावराः कृमिकीटाश्च मत्स्याः सर्पाश्चकच्छपाः।
पशवश्च मृगाश्चैव जघन्या तामसी गतिः॥
हस्तिनश्च तुरङ्गाश्च शूद्राम्लेच्छाश्चगर्हिताः।
सिंहा व्याघ्रा बराहाश्च मध्यमातामसीगती॥
चारणाश्च सुपर्णाश्च पुरुषाश्चैवदाम्भिकाः।
रक्षांसिच पिशाचाश्च तामसीपूत्तमा गतिः॥

जो अत्यन्त तमोगुणी हैं, वे स्थावर वृक्षादि, कृमि, कीट, मत्स्य, सर्प, कच्छप, पशु और मृग के जन्म को प्राप्त होते हैं। जो मध्यम तमोगुणी हैं वे हाथी, घोड़ा, शूद्र, म्लेछ निन्दित कर्म करने वाले, सिंह व्याघ्र, बराहादि के जन्म को प्राप्त

होते हैं। यहाँ पर मनु का प्रमाण इसलिये लिखा गया है कि जिससे पाठकों का यह भली प्रकार ज्ञात हो जाय कि प्लेटो के लेखों में मनु के लेखों की छाया स्पष्ट दिखाई देती है।

पुनर्जन्म की सिद्धि

इस सिद्धान्त के इतना प्रचारित होने पर भी इसके सिद्ध करने की आवश्यकता है। इस संसार में हमें विषमता दिखाई देती है। यह विषमता (inequality) साधारण भी नहीं है परन्तु अत्यन्त स्पष्ट भयङ्कर रूप में है। इसी विषमता को देखकर एक नास्तिक कह उठा कि There is no God, all is but chance. अर्थात् संसार में कोई परमात्मा नहीं। यह संसार अपने आप ही बन गया है। यदि संसार में कोई परमात्मा होता तो इस प्रकार की घोर विषमता दिखाई न देती। इस संसार में एक बालक एक धनी घर में पैदा होकर संसार के सब भोग विलासों का भागी बनता है तथा दूसरा एक गरीब के घर में जन्म लेकर दूध के लिये भी तरसता है। एक ही घर में एक भाई बदसूरत, निर्बल, मूर्ख होता है और उसी का दूसरा भाई सुन्दर, बलिष्ठ, तथा बुद्धिमान् होता है। एक ही समय में पैदा हुए दो जोड़े (Twins) में भी आकाश पाताल का भेद देखा गया है। उसकी प्रवृत्तियों में भी प्रायः आश्चर्यजनक असमानता होती है। इस प्रकार की विषमता भयोत्पादक है। यदि यह मान लिया जाय कि यह परमात्मा की इच्छा पर निर्भर है तो बिना अपराध किसी को दुःख देने का कारण

परमात्मा को पक्षपाती मानना पड़ेगा। इसलिये हमें बाधित होकर यही मानना पड़ेगा कि बालक इस संसार में अपने पूर्व संस्कारों तथा कर्मों के फलस्वरूप ही जन्म लेते हैं। इस संसार में उनका यह नया या प्रथम जन्म नहीं है।

(२) अद्‌भुत प्रतिभा (Infant Prodigies) समय समय पर प्रत्येक देश में ऐसे बालक पैदा होते हैं जो कि अद्‌भुतप्रतिभा का परिचय देते हैं। वह ऐसी बातें भी बताते हैं जिनके विषय में इसजन्म में उन्होंने कुछ भी ज्ञान तथा अनुभव नहीं प्राप्त किया। पुनर्जन्म की कल्पना को छोड़कर इस प्रकार की घटनाओं की व्याख्या नहीं की जा सकती। उदाहरणार्थ कुछ घटनायें पाठकों के मनोरञ्जनार्थ नीचे दी जाती हैं।

(१) ७ वर्ष की आयु में बालक न्यूटन हेस्टिङ्ग अपने व्याख्यानों द्वारा जनता को स्तम्भित कर देता है। जब कभी उसके व्याख्यान का नोटिस दिया जाता है। हाल खचाखच भर जाता है। वह एक स्कूल की द्वितीय कक्षा में पढ़ता है। कहते हैं कि उसके उपदेश सुनकर ही उसके पिता का सुधार हुआ है।

Human Personality by yrdrie W. H. Myers.

(२) न्यूयार्क में एक कन्या सर्वथा हब्शी शक्ल में उत्पन्न हुई है। वह वाशिङ्गटन नगर की एक एक घटना का वर्णन करती है और उस नगर के एक एक स्थान का नाम भी बतलाती है। अपना तथा अपनी पुरानी चाची का नाम भी बताती है। Occult Review, July 9. 2.

(३) ऐसे ऐसे बालक देखे गये हैं जो बचपन में गणित के बड़े बड़े जटिल सवाल हल कर देते थे और बड़े होने पर उनकी वह शक्ति जाती रही। डा० स्किरचर।

(४) पास्कल १२ साल की उमर में Plane geometry तथा यूकलिड (रेखागणित तथा ज्यामिति) के कठिन सवाल बिना सिखाये निकाला करता था।

(५) Mazzart मैजर्ट नामक गडरिया ५ वर्ष की आयु में Calculating Arithmetic के सवाल हल करता था।

(६) Theresamiluk थैरसमिलक चार साल की आयु में वायलन बजाता था।

(७) विडर ने १७८६१ का फैक्टर ३३७×५३ मौखिक निकाल कर बता दिया था परन्तु निकालने की विधि न बतला सका।

इसी प्रकार बालक गायक, बालक उपदेशक, बालक गणितज्ञ इत्यादि के सैंकड़ों उदाहरण ज्ञात हैं जिनका हल सिवाय पुनर्जन्म के सिद्धान्त के असम्भव है।

३—प्रथम मिलन में ही प्रेम तथा राग द्वेषादि के भाव पूर्वजन्म की स्मृति का परिणाम हैं।

४—पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षभयशोक सम्प्रतिपत्तेः ॥

यह घटनायें निष्कारण नहीं हो सकतीं। बालक ने पूर्व-जन्म में भिन्न २ विषयों के उपस्थित होने पर हर्ष शोक या भय अपने पूर्व जन्म में अनुभव किया था। इस जन्म में उन्हीं के Association सहचार से उसी प्रकार के भाव पैदा होते हैं।

५—'वीतरागजन्मादर्शनात्'—इस जन्म में बालक की किसी विषय में स्वाभाविक प्रवृत्ति और किसी में अप्रवृत्ति पूर्वजन्म के अभ्यास वश ही है।

६—प्रेत्याहाराभ्यासकृतात्स्तन्याभिलाषात्—

आहाराः विविधाः भुक्ताः पीता नाना विधाः स्तनाः।
मातरो विविधादृष्टाः पितरः सुहृदस्तथा ॥ निरु० १३-१९।

बच्चे का स्वभावतः माता के स्तन से दूध पीने की विधि से परिचित होना इस बात का प्रमाण है कि बालक का यह पहला जन्म नहीं परन्तु उसको पूर्वजन्म से इसका संस्कार है। इस प्रकार संक्षेप से पुनर्जन्म को सूचित करनेवाले प्रमाणों का हमने उल्लेख किया है। विज्ञ पाठक सोचने पर इसी परिणाम पर पहुँचेंगे कि पुनर्जन्म का वदिक सिद्धान्त युक्तियुक्त तथा मनोविज्ञान की स्थिर नींव पर स्थित है।

पुनर्जन्म सम्बन्धी शङ्काओं का युक्तियुक्त समाधान

१—क्या प्रार्थनादि करने से परमात्मा प्रसन्न हो कर प्रार्थना करने वाले के पाप क्षमा कर देता है? इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर 'नहीं' में है। वैदिक धर्म में परमात्मा पिता होते हुए भी न्यायकारी है। मनुष्य को अपने किये हुए प्रत्येक कर्म का फल भोगना पड़ता है। प्रार्थना या प्रायश्चित्त मनुष्य को भविष्य में पाप कर्म करने से बचने का साधन तो बन सकते हैं। परन्तु पिछले किये हुए पाप कर्मके फलसे छुटकारा नहीं दिला सकते। वेद में स्थान स्थान पर पाप से बचने की प्रार्थना की गई है।

वयं अनागाः स्याम। ऋ० ७-८७-७ । अर्थात् हम पाप रहित हों।

व्यहं सर्वेण पाप्मना । अथर्व ३-३१-१ । मैं सब पापों से रहित हो जाऊँ।

अव मा पाप्मन् सृज । अथर्व ६-२६-१ । हे पाप ! मुझे छोड़ दे।

एनो मा निगां कतमच्चनाहम । अ० ५-३-४ । किसी दिन भी पाप को प्राप्त न होऊँ । इसी प्रकार—

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते ।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित् सोमोऽवति हन्त्यासत् ॥
ऋ० ७-१०४-१२ ॥

न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम् ॥
हन्ति रक्षो हन्त्यासद्वदन्तमुभाविन्द्रस्य प्रसितौशयाते ॥
ऋ० ७-१०४-१३ ॥

अर्थात् विवेकी मनुष्य के लिये यह सुविज्ञेय है कि सत् तथा असत्, दोनों प्रकार के वचन परस्पर विरोधी हैं। उनमें से जो सत्य और अकुत्सित हैं उनकी परमात्मा रक्षा करता है और असत् का वह नाश कर देता है। परमात्मा पापी को नहीं बढ़ाता है। वह मिथ्यावादी बलवान् को भी नहीं छोड़ता अर्थात् उसे भी दण्ड देता है। वह राक्षस तथा असत्यवादी को मारता है वे दोनों परमात्मा के बन्धन में पड़े हैं। इस मन्त्र में जहां कर्मफल के सिद्धान्त को स्वीकार किया है कि परमात्मा उचित व्यवस्था रखने के लिये पापी को

दण्ड देता है और पुण्यात्मा की रक्षा करता है, वहाँ साथ साथ कर्म फल देने वाले परमात्मा की सत्ता को भी स्वीकार किया गया है।

ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः।
छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तंयः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु॥
अथर्व० ४-१६-६॥

हे वरुण! जो तेरे दृढ़ तथा बढ़दीप्तिवाले सात प्रकार के पाश हैं और जिनकी तीन प्रकार की स्थिति है वे सब पाश झूठ बोलने वाले को बांध लेवें और जो सत्यवादी हैं उसे छोड़ देवें।

शतेन पाशैरभिधेहि वरुणैनं मा ते मोच्यनृतवाङ् नृचक्षः।
आस्तां जाल्म उदरं भ्रंशयित्वा कोश इवाबन्धः परिकृत्यमानः॥
अथर्व० ४-१६-७

हे वरुण! इसको सैंकड़ों पाशों से बांध दे। हे सर्वदुष्ट-हन्तः! झूठ बोलनेवाला तेरे से न छूटे। इन मन्त्रों में सत्य से पुण्य मात्र का और असत्य से पापमात्र का तात्पर्य समझना चाहिये। इन मन्त्रों से यह स्पष्ट है कि वेद की दृष्टि में पापी के लिये कोई क्षमा नहीं है। ईसाइयों का कहना है कि परमात्मा सबका पिता है और दयालु है। वह पिता परमात्मा प्राय-श्चित्तादि करने से हमें पाप से मुक्त कर देता है। वैसे तो वेद में 'स नः पितेव सूनवे' 'योनः पिता जनिता' 'त्वं माता' इत्यादि मन्त्रों में परमात्मा को पिता तथा माता के नाम से

स्मरण किया गया है। परन्तु जैसा कि हम पहले तीसरे अध्याय में लिख आये हैं कि न्याय तथा दया ये दोनों विरोधी शब्द नहीं समझने चाहिएँ। वस्तुतः न्याय तथा दया साथ साथ चलते हैं। न्याय से रहित की गई दया, दया नहीं, वह केवल दया करनेवाले की निजी निर्बलता है। इसी प्रकार ठीक न्याय भी कभी दया रहित नहीं हो सकता। जैसा कि हमने पहले लिखा है कि प्रायश्चित्त प्रार्थनादि का इतना ही लाभ है कि मनुष्य आगे पाप करने से बच सके। अपथ्य कर लेने के बाद उपवास तथा औषध आदि सेवन कर लेने से हम परिणाम की भयङ्करता को कम कर सकते हैं, परन्तु यह नहीं कह सकते कि अपथ्य करने का हम पर कोई असर नहीं हुआ। इस कारण प्रार्थना तथा प्रायश्चित्तादि करने से दण्डमुक्त होने की कल्पना युक्तियुक्त नहीं कही जा सकती।

हमें पूर्वजन्म की स्मृति क्यों नहीं होती

वैसे तो कई बालक ऐसे पैदा होते हैं जो कि अपनी पूर्व जन्म की बातों को बतलाते हैं। ये घटनायें तो परमात्मा की अद्भुत लीला का परिणाम हैं। इनसे पुनर्जन्म के सिद्धान्त की पुष्टि होती है। परन्तु साधारणतया पिछले जन्म की बातों का याद न रहना परमात्मा की अत्यन्त दयालुता का ही परिणाम है। यदि पिछले जन्म की बातें मनुष्य को याद आने लगें तो संसार में अनर्थ हो जाय। यह संसार युद्ध भूमि बन जाय। अपने पुराने जन्म के मित्र शत्रु इत्यादि का पता लगने पर

बदले की भयङ्कर आग पैदा होगी और प्रत्येक मनुष्य प्रति-हिंसा के भाव से पागल हो उठेगा। इसी प्रकार अपने पुरातन सम्बन्धियों का ज्ञान भी श्रेयस्कर न होगा। इसलिये पूर्व-जन्म की बातों का स्मरण न होना ही कल्याणकारक है।

दूसरी बात यह है कि हमें वर्तमान जन्म की ही सैंकड़ों बातें स्मरण नहीं रहतीं तो पूर्वजन्म की बातों के स्मरण रहने की क्या सम्भावना हो सकती है। यदि एक मनुष्य से पूछा जाय कि १६०० सन् के मई मास की २३ वीं तारीख को दुपहर के २ बजकर ५ मिनट पर तुम क्या कर रहे थे। यदि इस बात का उत्तर वह न दे सके तो क्या यह कहा जा सकता है कि उस तिथि को उसका उसका अस्तित्व ही न था।

प्रायः सब दर्शनकारों ने सूक्ष्मसंस्कारों को स्मृति का जनक बताया है। ये संस्कार हमारी अनुभूतियों के सूक्ष्मरूप हैं। जो अनुभूति के नाश पर भी बने रहते हैं। अवसर पड़ने पर, उद्बोधक सामग्री के उपस्थित होने पर इन्हीं संस्कारों से स्मृति उत्पन्न होती है। संस्कार जितने प्रबल हों स्मृति उतनी ही अधिक विशद होती है। जिस अनुभूति के समय हम पर जितना गहरा प्रभाव पड़े उसके संस्कार भी उतने प्रबल होते हैं। परन्तु साधारण अनुभूतियों के संस्कार क्षीण होते हैं और उनमें स्मृतिजन्य शक्ति मृतप्राय होती है। इस जीवन में भी कितनी ऐसी बातें हैं जो बुढ़ापे तक याद नहीं

रहतीं। उदाहरणार्थ एक के पास ६४ पैसे हैं इनकी बजाय वह रुपया रख लेता है। इस रुपये में ६४ पैसों की स्थूलता नहीं परन्तु फिर भी वह ६४ पैसों का काम दे सकता है। इसी प्रकार १००) के नोट में भी ६४ पैसे अत्यन्त सूक्ष्म रूप में हैं। परन्तु यदि १००) का नोट लेकर आप १ पैसे के चने लेने जायँ तो आपको कामयाबी न होगी। यद्यपि कुंजड़े जैसी उद्‌बोधक शक्ति आपको प्राप्त हो गई है। यही १००) का नोट सुवर्णकार की दूकान पर तुड़वा कर आप पैसे के चने ले सकते हैं। इसी प्रकार सूक्ष्म अव्यक्त संस्कारों को भी योग समाधि द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। जिस प्रकार १००) के नोट को स्थूलरूप देकर उसके एक एक पैसे का उपयोग किया जा सकता है उसी प्रकार योग साधन द्वारा संस्कारों को उद्‌बुद्ध करके इस तथा पूर्व जन्म की साधारण घटनाओं का भी ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। योग दर्शनकार भी कहते हैं कि 'अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोधः' "संस्कारसाक्षात् करणात् पूर्वजातिज्ञानम्" अर्थात् योग साधन से पूर्वजन्म की बातों का ज्ञान होता है। नौ मास गर्भ में रहने का हाल किसी को स्मरण नहीं तो क्या मनुष्य उस अन्ध कोठड़ी में नहीं रहा? पाँच वर्ष तक की आयु का हाल वृद्ध अवस्था में स्मरण नहीं रहता तो क्या बाल्यावस्था से इन्कार किया जा सकता है?

३ क्या पैतृक-संस्कार-नियम (Law of Heredity) इन विषमताओं को हल कर सकता है ?

कई विचारकों का मत है कि संसार की इन विषमताओं का (Inequalities) का हल पैतृक-संस्कार-नियम से किया जा सकता है। अर्थात् इस संसार में जो विषमता दृष्टिगोचर होती है, उसका कारण माता-पिता या उनके संस्कार हैं, पुनर्जन्म के मानने की कोई आवश्यकता नहीं। परन्तु हमारा यह निश्चित मत है कि Law of Heredity (पैतृक-संस्कार-नियम) इन विषमताओं का हल नहीं है। क्योंकि अधोलिखित प्रश्नों का उत्तर पुनर्जन्म ही दे सकता है।

(१) एक ही माता-पिता की सन्तानों में बुद्धि तथा प्रवृत्ति में भेद क्यों है ?

(२) जोड़े (Twins) की योग्यताओं, प्रवृत्तियों तथा शारीरिक अवस्थाओं में भेद क्यों ?

(३) प्रतिभासम्पन्न बालकों का जन्म मामूली माता-पिता के घर में क्यों ?

(४) बुद्धिमान् माता-पिता के घर में मूर्ख बच्चे क्यों पैदा होते हैं ?

(५) धर्मात्मा माता-पिता के घर में व्यभिचारी पुत्रों की उत्पत्ति क्यों ?

(६) पापी माता-पिता के घर में धर्मात्मा पुत्रों की उत्पत्ति क्यों ?

(७) दो भाइयों में एक संगीत का प्रेमी और दूसरा दुश्मन। यह विषमता क्यों?

४—क्या भाग्य कोई वस्तु है?

कर्म तीन प्रकार के होते हैं:—

(१) संचित (Accomulated) जन्म-जन्मान्तर के कृत तथा अभुक्त कर्मों का कोष। क्रियमाण कर्म जिनका फल हमें अभी तक नहीं मिलता, इसी कर्मभण्डार में जाकर जमा हो जाते हैं।

(२) प्रारब्ध (To be worked out in this life)—इसी का नाम भाग्य है। पूर्वजन्म के संचित कर्मों का वह भाग, जिसका फल हमें इस जन्म में भोगना है। 'प्रारब्ध कर्मणांभोगादेवक्षयः'—'नाभुक्तंक्षीयतेकर्म कल्पकोटिशतैरपि' बिना भोग के कर्मों का क्षय कभी नहीं होता। संचित भण्डार से जिन कर्मों का फल हम वर्तमान काल में भोग रहे हैं उसे ही प्रारब्ध कहते हैं। इसके अलावा भाग्य कोई वस्तु नहीं है। अपने भाग्य के निर्माता हम स्वयं है। यदि संसार को Chance आकस्मिक घटना मान लिया जाय, तो किसी भी मनुष्य को अपने कर्मफल का भरोसा न होगा। हम बरसों मेहनत करें और अन्त में Chance आकस्मिक घटना के कारण असफल हो जाएँ।

(३) क्रियमाण—वर्तमान काल में जो कर्म किया जा रहा है और जिनमें से बहुत-से कर्म संचित की श्रेणी में जुड़ जायेंगे।

४—कर्म का प्रारम्भ कब से है ?

कर्म नित्य (Eternal) प्रवाह से अनादि हैं। शरीर और आत्मा का सम्बन्ध होने पर ही कर्म होते हैं। यह संसार प्रवाह से अनादि है। जीव तथा शरीर का सम्बन्ध इसी प्रकार प्रवाह से अनादि है। इसलिए कर्म का भी प्रारम्भ नहीं है।

इस प्रश्न को इस प्रकार से भी स्पष्ट किया जा सकता है:—

(१) संसार में जो सुख-दुःख हैं, वह अकारण नहीं; किन्तु कर्म के अटल और सत्य सिद्धान्त के अनुकूल हैं।
(२) संसार का नियम अंधाधुन्ध नहीं; किन्तु एक शक्तिशाली शासक और न्यायकारी परमात्मा की प्रकृति के नियम के अनुकूल है।
(३) सृष्टि के नियम में हमें कोई पदार्थ नवीन प्रतीत नहीं होता और न किसी वस्तु का अभाव है।
(४) जीव अथवा चेतन आत्मा नाशवान् पदार्थ नहीं और न नवीन उत्पन्न सादि, किन्तु अनादि पदार्थ है।

अतः इन बातों पर विचार करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि आवागमन के सिद्धान्त का मानना सर्वथा युक्त है और क्रियात्मकरूप से इसे अस्वीकार करना असम्भव है।

पाप कहाँ से आया ?

'स्वतन्त्रः कर्त्ता' आत्मा कर्म करने में स्वतंत्र है, और फल भोगने में परतन्त्र है। कर्म करने में यह स्वतन्त्र आत्मा अनादि काल से पाप तथा पुण्य करता

आया है। पापकर्म का उत्पत्तिस्थान मनुष्य का मलिन अन्तः-करण है। जितना मनुष्य-जाति पापकर्म करने से निवृत्त होती है, उतना ही संसार में पाप कम हो जाता है और धर्म का साम्राज्य क़ायम होता है तथा जितना अधर्म अधिक होता है, उतना ही पाप की वृद्धि होती है। कई मतावलम्बी यह मानते हैं कि दुनिया में शैतान (Satan) पाप का लानेवाला है। इस प्रकार परमात्मा के मुक़ाबले में एक शक्ति मान लेने से परमात्मा की सत्ता की हीनता सिद्ध होती है और शैतान को भी परमात्मा के मुक़ाबले में मानना पड़ता है। अतः शैतान नाम की कोई स्वतन्त्र शक्ति नहीं है। बुरे कर्मों को ही शैतान कहा जा सकता है। परमात्मा ने अपने ज्ञान वेदों के द्वारा हमें धर्माधर्म, पाप पुण्य का ज्ञान दे दिया है। सोचने तथा समझने के लिये बुद्धि दे दी है। अब यदि हम परमात्मा की आज्ञा का पालन कर के उस के नियमों के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करें तो हमें 'अभ्युदय' तथा 'निःश्रेयस' दोनों की प्राप्ति होगी अन्यथा जन्म मरण के बन्धन में पड़कर नाना प्रकार के दुःखों के भागी होंगे।

७—जिस अपराध का हमें पता नहीं उस का फल हमें क्यों भोगना पड़ता है

कई विचारकों का यह प्रश्न है कि इस संसार में प्रायः जो दुःख हमें उठाने पड़ते हैं उनके अपराधों का भी हमें पता होना चाहिये। बिना अपराध बताये दण्ड देना न्याय संगत प्रतीत नहीं होता। यह हम ऊपर बता आये हैं

कि पूर्व जन्म की स्मृति हमारे लिये किसी भी अवस्था में कल्याणकारक नहीं हो सकती। इसलिये हमें उन अपराधों के ज्ञान होने की भी आवश्यकता नहीं। जब संसार का साराचक्र, कार्यकारण के अटल नियम से चल रहा है तब यह बात भी स्वतः सिद्ध है कि दुःख तथा सुख पापपुण्य का ही परिणाम हैं। कई बार अपने भयङ्कर कर्मों की याद ही मनुष्य के लिये अत्यन्त अकल्याणकारिणी हो जाती है और वह मनुष्य के पाप मार्ग में प्रवृत्त होने के लिये सहायक बन जाती है। इस लिये अपने उन भयङ्कर कार्यों के विषय में अज्ञान ही कल्याणकारी है। हमें बहुत सी ऐसी बीमारियां भोगनी पड़ती हैं जिन का कारण हमें ज्ञात नहीं होता। परन्तु यह अज्ञान, कार्यकारण के नियम से हमें मुक्त नहीं कर सकता।

स्वर्ग तथा नरक की कल्पना

मुसलमान तथा ईसाइयों का मत है कि मनुष्य नेकी करके (Heaven) ज़न्नत तथा बदी करके (Hell) जहन्नम को जाता है। मृत्यु के बाद कब्र में कयामत तक जीव स्वप्नावस्था में पड़ा रहता है और कयामत (Day of Judgement) के दिन उन्हें जगाया जाता है और परमात्मा के सामने पेश किया जाता है। उनके कर्मों को तोला जाता है। जिसके बुरे कर्म रत्ती भर भी ज्यादा हों, उन्हें हमेशा के लिये दुःख भोगने के लिये जहन्नुम की जलती भट्टी में फेंक दिया जाता है, और जिनके अच्छे कर्म

रत्ती भर भी ज्यादा हों; उन्हें अनन्तकाल के लिये स्वर्ग के अनन्त सुखों का भोग करने के लिये जन्नत में भेज दिया जाता है। यह कल्पना कितनी मूर्खतापूर्ण है, यह थोड़े से विचार से ही स्पष्ट हो जाता है।

(१) इतनी देर तक शरीर का क़ब्र में रहना असम्भव है। वह तो मिट्टी में मिल जाता है। उसका अस्तित्व ही नहीं रहता। प्रश्न यह है कि क़यामत के दिन तक जीवात्मा कहां रहते हैं और उस अवस्था में वे दुःख भोगते हैं या सुख। और यदि शरीर से पृथक् जीवात्मा का कोई अस्तित्व नहीं तो शरीर के मिट्टी में मिल जाने के बाद उनका कयामत के दिन उठना युक्तिहीन तथा बुद्धि-शून्य है।

(२) इस कल्पना में दूसरा भारी दोष यह है कि सान्त कर्मों का अनन्त फल कैसे मिल सकता है। जो कर्म सौ पचास की आयु प्राप्त करके किये जायें उनके फल अनन्तकाल तक भोगना न्याय संगत नहीं।

(३) तीसरा दोष इस कल्पना में यह है कि प्रत्येक कर्म का तोल कर फल नहीं मिलता। थोड़े से अच्छे कर्म करने से स्वर्ग और थोड़े से भी बुरे कर्म करने से नरक का मिलना न्यायसंगत नहीं। प्रत्येक कर्म का पृथक् पृथक् फल मिलना चाहिये।

(४) इस कल्पना में चौथा दोष यह है कि बहिश्त में छोटे बड़े पद हैं, सांसारिक जीवों की भांति ईर्ष्या द्वेष हैं। मनुष्य

मैथुन करते हैं, मांस खाते हैं। मद्य पीते हैं। यही सोचकर सय्यद साहब ने सच कहा है कि बहिश्त से तो हमारा गणिकागृह हज़ार गुणा उत्कृष्ट हैं। "सत्यान्वेषी संयमी वहिश्त की क्यों इच्छा करेगा। क्योंकि बहिश्त की इच्छा करने वाला तो हूरों के लिये लालायित रहता है और वह विषयलोलुप अर्थात् कामी होता है।

कब हक़ परस्त जाहिद जिन्नत परस्त है,
हूरों पर मर रहा है यह शहवत परस्त है।

इस्लामी बहिश्त का नमूना एक कवि ने इस प्रकार से खींचा है—

गोयन्द वहिश्त हौज़ो कौसर बाशद
बांजामये नाबोशहदो शकर बाशद
पुरकुन क़दह जिबाद हो बरदस्बमनह
नकद ज़हदजार निसियांवहतर वाशद

अर्थात् स्वर्ग में बड़े २ हौज़ और दूध के दरिया हैं और स्वच्छशराब, शहद और शर्करा भी हैं। वहां तू अपने प्रेम की शराब से भरा हुआ प्याला मेरे हाथ में दे। यह सहस्रों नकद रुपयों औद स्त्रियों से श्रेष्ठ है।

इस प्रकार का स्वर्ग कोई भी बुद्धिमान् नहीं मान सकता। यह तो कल्पित अलिफ़ लैला की कहानियों की भांति कल्पनाओं की एक कहानी है।

पुनर्जन्म द्वारा अपराधी का सुधार इस प्रकार होता है

कि वह विवश, परन्तु कर्मों के अनुसार सुधार के विचार से, उन्नति के पद से च्युत करके, एक स्मरण न रहने वाली योनि में डाल दिया जाता है; और वहां उसे उस पदार्थ से वंचित रखा जाता है जिससे कि वह पहले बिगड़ा था। एक योनि अथवा कई योनि भोग चुकने के पश्चात् जब वह पुनः मनुष्य योनि में आता है तो उसे उन पूर्व व्यतीत योनियों का स्मरण नहीं रहता और जिस स्थान से उसका पतन प्रारम्भ हुआ था, उसी पर स्थिर किया जाता है जिससे वह अपना फिर सुधार करे। इससे अधिक उत्तम साधन न्यायकारी परमात्मा की ओर से और क्या हो सकते हैं ?

९—यदि यह सत्य है कि कर्मों के बिना सुख दुःख नहीं मिलता तो मनुष्य को किसी प्रकार का परोपकार करने की आवश्यकता नहीं रहती (उत्तर) यह निर्विवाद सत्य है कि कर्मों के बिना सुख दुःख नहीं मिलते। बाइबल में भी इस सत्य का सुन्दर रीति से प्रतिपादन किया गया है। मत्ती की इञ्जील में लिखा है:—

"मनुष्य का पुत्र अपने स्वर्ग दूतों के साथ अपने पिता की महिमा में आयेगा और उस समय वह प्रत्येक को अपने कर्मों के अनुसार फल देगा" १६-२७

"धोखा न खाओ, परमेश्वर हँसी में नहीं उड़ाया जाता, क्योंकि मनुष्य जो कुछ बोता है वही काटेगा"—गलतियों के नाम पौलुस प्रेरित की पत्री ६-७

"क्योंकि तू अपनी बातों से निर्दोष और अपनी बातों से दोषी ठहराया जायेगा—मती० १२-३७।

"वह हर एक को उस के कामों के अनुसार बदला देगा" रोमियों के नाम पोलुस प्रेरित की पत्री २-७।

अब रहा परोपकार करना, यह एक नवीन कर्म है और इस का फल परमेश्वर प्रदान करेगा। दैवी दण्ड का तो कोई उल्लंघन नहीं कर सकता, हाँ उसकी आज्ञा पालनार्थ— जिस से कि अपराधी शीघ्र न मर जाये और हम भी दण्ड से भयभीत रहें—परोपकार करना आवश्यक है। जिस प्रकार वेद ने स्वाश्रय और कर्मवाद का प्रचार किया, उसी प्रकार उसने अपने परोक्ष ज्ञान की शक्ति से भविष्य उन्नति का मार्ग परोपकार के नियम से बताया और साथ ही नास्तिकता की विनाशकारी व्याधि से बचने के लिये, प्रभु परमात्मा के पवित्र पथप्रदर्शन से प्रार्थनोपासना का प्रत्यादेश किया।

१०—(प्रश्न) पुनर्जन्म के सिद्धान्त के मानने में आयुर्वेद विद्या का निरर्थक होना इस लिए सिद्ध होता है कि जब हमने यह स्वीकार किया कि समस्त रोग जो मनुष्यों और पशुओं को होते हैं, वह सब रोगियों के पूर्व कर्मों के परिणाम और फल हैं और कुकर्मों के दण्डरूप हैं तो आयुर्वेदज्ञ स्वाभाविक कारणों की खोज क्यों करने लगे। और जब विश्वास के अनुसार यही स्वीकार कर लिया गया कि दण्डरूप फल अवश्य-मिलना है और किसी प्रकार भी सम्भव नहीं कि ईश्वर के

न्यायालय से वह दंड-विमुक्त कर दिया जाय तो ओषधि-उपचार से क्या लाभ, और उसके कारण ईश्वर की दया और अनुग्रह के कारण हमारी क्योंकर दैवी न्यायालय के दण्ड से रक्षा हो सकती है और रोगों के निदान और चिकित्सा-साधन से क्या लाभ होगा ?

(उत्तर) जिस प्रकार असंयम अथवा कुपथ्य से रोग अवश्य होता है उसी प्रकार औषधि सेवन से उस रोग की निवृत्ति होती है। असंयम बुरा कर्म है ईश्वर इसका फल दुःख देता है। इसी प्रकार औषधियों में ईश्वर ने अपनी दयालुता से रोग निवारण का प्रभाव उत्पन्न किया है और वेद में उसके सेवन की आज्ञा है। अतः ईश्वरीय आज्ञा के अनुसार औषधि सेवन शुभकर्म है, उसका फल सुख होता है। यदि असंयम से रहना कर्म है तो औषधि सेवन भी कर्म है। प्रत्येक कर्मका फल अवश्य मिलता है। साथ में यह भी याद रखना चाहिये कि जब तक दुःखकी अवधि समाप्त न हो जाये, दुःख दूर नहीं होता।

११—स्वर्ग वा नरक क्या है

आवागमन एक अत्यन्त विस्तृत शब्द है जिस में सम्पूर्ण प्रकार के दण्ड, और पूर्ण प्रकार के भोग सम्मिलित हैं। अतः वैदिक धर्मी नरक और स्वर्ग को अवश्य मानते हैं। स्वर्ग के अर्थ सुख विशेष और इसी अवस्था के अनुकूल किसी विचारशील सज्जन का कथन है कि—"बहिस्त आँजाकि आज़ारे न बाशद् कसेरा बाकसे कारे न बाशद" अर्थात् बहिश्त उस स्थान पर है कि जहां

पर कोई कष्ट नहीं है और कोई किसी की सहायता का इच्छुक नहीं है।

२—शरीर के बिना मनुष्य दण्ड और फल भोग नहीं सकता। अतः जहां और जिस स्थान पर जाकर मनुष्य अपने कर्मानुसार सुख दुःख पाता है, वही स्वर्ग और नरक है। किसी विशेष गृह का नाम स्वर्ग या नरक नहीं।

श्री पण्डित लेखराम जी आर्य-मुसाफ़िर ने पुनर्जन्म के पक्ष की युक्तियों का संक्षेप इस प्रकार से दिया है कि :—

१—आवागमन संसार के समस्त पदार्थों में स्वाभाविक है क्योंकि समस्त पदार्थ आवागमन के चक्र में है और यह प्राकृतिक नियम है। अतः जीवात्मा प्राकृतिक नियम से विरुद्ध नहीं हो सकता।

२—सहस्रों जाते हैं और सहस्रों आते हैं। यदि एक बार जन्म लेना और मरना होता तो प्रत्येक जीवात्मा मनुष्य के चोले में प्रलय के विश्वासियों के कथनानुसार, प्रलय पर्यन्त रहता, परन्तु ऐसा नहीं है। यदि पुनर्जन्म न मानें तो अन्य मानवसृष्टि भविष्य में उत्पन्न न होनी चाहिये। क़ई कहते हैं कि नवीन जीव आते हैं यह स्थापना अनुभव विद्या और बुद्धि के विरुद्ध है, इसके निम्न कारण हैं—

(क) जितने शरीर बनते हैं, इसी मिट्टी से बनते हैं, जो पृथिवी पर पहले विद्यमान है, कोई नवीन मिट्टी नहीं आती।

(ख) जितनी वर्षा होती है, उसी वाष्प से जो पृथिवी से उठती है और जो इससे पूर्व पानी था, कोई नवीन उत्पन्न नहीं होती।

(ग) जितने वृक्ष उत्पन्न होते हैं, इसी वर्त्तमान मिट्टी से उत्पन्न होते हैं। अभाव से भाव में नहीं आते।

(घ) जितनी नदियाँ बहती हैं, उसी पानी से जो पहले नदी से समुद्र में गया। कहीं अभाव से उसकी सत्ता का वर्त्तमान नहीं होता।

(ङ) जितने गृह बनते हैं, सब उसी मिट्टी और उसी ईंट और उसी पत्थर से—जो पहले पृथिवी पर किसी न किसी रूप में विद्यमान हैं—बनते हैं।

जब समस्त भौतिक शरीर उसी प्रकृति से बनते हैं जिससे पहिले सहस्रों बन चुके हैं तो स्पष्ट प्रगट है कि जीव भी वही आता है जो पहले किसी शरीर से सम्बन्ध परित्याग कर चुका है। जिस प्रकार ईश्वर नवीन प्रकृति की रचना नहीं करता, किन्तु उसी प्राचीन प्रकृति से शरीर की रचना करता है उसी प्रकार वही प्राचीन जीव पुनः पुनः आते हैं न नवीन उत्पन्न ही होते हैं, और न एक बार ही आते हैं।

४—जो वस्तु अनादि है, उसके गुण कर्म स्वभाव भी अनादि हैं। जीवात्मा चेतन होने के कारण, जड़ और निश्चेष्ट नहीं; अपितु कर्म करने का स्वभाव रखते हैं और शरीर

धारण करना उनका स्वभाव है। इस प्रकार स्पष्ट प्रकट है कि जीव और शरीर का संयोग और वियोग अर्थात् पुनर्जन्म भी, उसके निमित्त भी आवश्यक है।

५—जीवों का शरीर में विभिन्न सुख दुःखों का भोगना स्पष्ट प्रकट करता है कि यह उनके ही विभिन्न कर्मों का परिणाम है अन्यथा सब जीवों को एक ही प्रकार के फल प्राप्त होते हैं। क्योंकि परमेश्वर न्यायकारी है, वह अकारण और अनर्थक किसी को दुःख नहीं देता। एक बालक का स्वस्थ उत्पन्न होना और दूसरे का अन्धा, लूला, लँगड़ा, कोढ़ी उत्पन्न होना पुनर्जन्म को सिद्ध करता है।

६—पुनर्जन्म के अविश्वासी लोग यह स्वीकार करते हैं कि इस जन्म के कर्मों के अनुसार ही स्वर्ग और नरक प्राप्त हो जायेगा।

परन्तु यह बड़ी भारी भूल है। क्योंकि परमेश्वर न्याय कारी है, परिमित कामों के लिये नित्य नरक अथवा नित्य स्वर्ग दे देना, उसकी न्याय नीति के विरुद्ध है। क्योंकि न्याय यह कहता है कि परिमित कर्मों का फल परिमित ही होना चाहिये। अतः जब तक पुनर्जन्म न माना जावे, ईश्वर के ऊपर से आक्षेप दूर नहीं हो सकता और अन्यायी अर्थात् परिमित कर्मों के लिये, सदैव के लिये नरक में डालनेवाला कभी ईश्वर होने के योग्य नहीं।

७—जब तक अपराधी को अवसर न दिया जाये कि

फिर अच्छे कर्म करे तब तक ईश्वर की अपारदयालुता का प्रकाश नहीं हो सकता। एक बार जन्म मानने से, उसकी सत्ता, दया और अनुग्रह के गुणों से शून्य हो जाती है। पुनर्जन्म के मानते ही यह आक्षेप दूर हो जाता है और मनुष्य को सदैव सदाचारी बनने का शुभावसर दिया जाता है।

८—पुनर्जन्म के न मानने से एक यह आक्षेप ईश्वर पर आरोपित होता है कि यदि जीव को कर्मों के प्रतिफल में नहीं तो, क्यों दुःख दिया गया। जो इसका उत्तर यह देते हैं कि जीव की परीक्षा के निमित्त, तो यह एक और आक्षेप ईश्वर पर आरोपित करते हैं। क्योंकि परीक्षा वह करता है, जो मूख हो, जिसे ज्ञान न हो, जो अन्तर्यामी न हो। परन्तु ईश्वर तो सर्वज्ञ है। अतः परीक्षा करना सर्वथा असत्य है। इस आक्षेप का निराकरण पुनर्जन्म को माने विना असम्भव है।

९—मनुष्य से लेकर कीड़े मकौड़े तक सभी जीव मरने अर्थात् शरीर से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने से भय खाते हैं। इससे स्पष्ट प्रगट है कि पहले उनका कभी मृत्यु अर्थात् शरीर से सम्बन्ध विच्छेद हो चुका है, अन्यथा जिससे सम्बन्ध न रहा हो, उससे मनुष्य भय नहीं करता।

१०—जीव शरीर में प्रविष्ट हुआ। उसका प्रवेश कर्मों से मानो अथवा अन्धाधुन्ध ईश्वर की आज्ञा से जानो। जिस प्रकार भी मानो, इस पर एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि जिस

ईश्वर ने इसको अब शरीर से संयुक्त किया, कोई कारण विदित नहीं होता कि इस शरीर से पूर्व और पश्चात् उसकी आज्ञा ऐसी आवश्यकतायुक्त न हो सके; यद्यपि समस्त सृष्टि नियम इसका सहायक है। अतः पुनर्जन्म को अस्वीकार करना मानो सृष्टिनियम को अस्वीकार करना है।

६१—भले और बुरे जीव शरीर परित्याग करने के पश्चात् प्रलय के काल तक एक स्थान पर रक्खे जायेंगे अथवा कर्मों के अनुसार विभिन्न स्थानों अथवा शरीरों में ? यदि कर्मों के अनुसार पृथक् पृथक् रहते हैं तो फल मिल चुका, प्रलय की आवश्यकता नहीं। और यदि एक ही स्थान में भरे जाते हैं तो अत्यन्त अन्याय—और ऐसा ही अन्धेर क़यामत में होगा। अतः यह सरल मार्ग है कि उनको कर्मों के अनुसार फल मिलेगा, क़यामत की कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि ईश्वर का कोई भी कार्य निरर्थक नहीं। यद्यपि क़यामत के स्वीकार करने से ईश्वर के गुण, न्याय और दया दोनों इस समय व्यर्थ सिद्ध होते हैं। अतः पुनर्जन्म ही ऐसा दृढ़, यथार्थ और सत्यमार्ग है कि जिसके स्वीकार करने से परमेश्वर की सत्ता सभी दोषों से मुक्त हो जाती है।

व हाज़ा तरीकुल सवाब वमस्लहे लाजवाब।
यह नियम पुण्यप्रद और यह मन्तव्य लाजवाब है।

क्या कुरान में पुनर्जन्म का सिद्धान्त है

वर्त्तमान मुसलमान यद्यपि पुनर्जन्म के सिद्धान्त को नहीं मानते परन्तु कुरान में कई ऐसी आयतें उपलब्ध होती हैं जिन में

कि पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है।

१—बलक़द अ़लिम्तु मुलज़ीना अ़ब्अ़तद्द् मिनक़ुम्‌ फ़िस्सब्ते फ़क़ुलना लहुम् कनु क़िरदता ख़ासिईनू—क़ुरआन सूरये बक़।

तुम से उन मनुष्यों का, जिन्होंने शनिवार के दिन सीमा का उल्लंघन किया जाना, जाता है। फिर हमने उन को कहा कि तुम बन्दर बन जाओ ख़्वार हो।

२—फ़लम्मा अनू मिनू मानह्नू अनहो फ़क़ुलमा लहुम् कूनू क़िरदताखसिईन् सूरये अअराफ़।

जो काम इन से छुड़ाया गया था, उसे इन्होंने उचित समझा, अतः हमने उन से कहा कि तुम बन्दर हो जाओ और ख़राब हो।

३—इन्नलज़ीना कफ़रू बिआयातिना सौफ़ा नुस्लीहिम् नारन् कुल्लमा नज़िजत् जूलूदोहम् बद्द्लनाहुम् जुलूदन् ग़ैरहा लियज़ूक़ुल अज़ाबा इन्नल्लाहा काना अज़ीजन् हकीमू। सूरये अनआम।

जिन्होंने हमारी आयतों को अस्वीकार कर के उन से कुफ्र किया, उन्हें हम अग्नि में डालेंगे और वहां पर जिस समय उन के शरीर जल जावेंगे, हम उन के शरीरों के परिवर्त्तन में उन्हें अन्य शरीर देंगे, जिस से कि दण्ड को चखते रहें निश्चय, अल्लाह तगा और बुद्धिमान् है।

४—ला तहसीनल्लज़ीना क़तलू फी सबी लिल्लाहे अन्वातन्- सूरये इम्नान।

उनको जो खुदाके मार्ग में क़त्ल हुए हैं—मृतक मत समझो।

तफ्सीर हुसैनी में लिखा है—जो लोग दीन की लड़ाई में मारे गये, उनको खुदा ने हरे पक्षियों की योनि में उत्पन्न किया है; जो बहिश्त की वायु में उड़ते हैं, बहिश्त के वृक्ष पर घोंसला बनाते हैं, कौसर नहर का पानी पीते हैं और अर्श में उनके प्रकाश के लिये तारागण रूपी झाड़-फ़ानूस लगे हुए हैं। (जि० १ पृ० ८६)

निश्क़ात में लिखा है कि हमने इन्हें उत्पन्न किया है, हम जब चाहें इन की देह बदल दें, जब चाहें इन्हें मार दें और जब चाहें फिर दूसरा रूप दे दें। (जि० ४ पृ० ५६१)

इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि पुनर्जन्म का सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन है और एक समय समस्त संसार इस को मानता था। सभी सभ्य देशों के विद्वानों तथा बुद्धिमानों का इस पर विश्वास था। यूनान, मिस्र, रोम, भारत, ईरान, चीन, मैक्सिको और पीरु के बुद्धिमान् लोग इस के अनुयायी थे, इसी प्रकार अरब, तातार रूस, आस्ट्रेलिया तथा उत्तरीय अमेरिका के निवासी इस पर विश्वास करते थे। संसार का कोई भी देश ऐसा नहीं था जिस का इस क्रियात्मिक सिद्धान्त से गहरा सम्बन्ध न हो। समस्त प्राचीन इतिहास इस पर सहमत है कि जिस समय संसार में सभ्यता, शान्ति का राज्य था, समस्त संसार में एक ही वैदिक धर्म फैल रहा था। उस समय भी यह पवित्र सिद्धांत सब पिपासित हृदयों की पिपासा को शान्त कर रहा था।

अष्टम अध्याय

अवतारवाद

तीसरे अध्याय में ईश्वर के स्वरूप के विषय में विचार करते हुए हमने अवतारवाद पर थोड़ा-सा प्रकाश डाला था। इस विषय के आवश्यक होने से इस पर अलग अध्याय लिखने की आवश्यकता समझ कर इस अध्याय में 'प्रश्नोत्तर' रूप से अवतारवाद के सिद्धान्त की मीमांसा करने का यत्न करेंगे।

प्रश्न—अवतार क्या है ? (उत्तर) अवतार का अर्थ उतरना है। अवतार शब्द अव पूर्वक तॄ धातु से बनता है। इसका अर्थ उतरना होता है। अवतार शब्द का प्रयोग सर्वव्यापक परमात्मा में नहीं घट सकता। सर्वव्यापक में इस को प्रयुक्त करना अज्ञान है। परमात्मा कहीं आकाश में किसी सिंहासन पर तो बैठा ही नहीं जो वहाँ से उतर कर आया हो। वास्तव में अवतार के अर्थ समझने में लोगों ने भूल की है। उदाहरणार्थ युधिष्ठिर को लोग धर्म का अवतार कहते हैं। तो क्या धर्म कोई ऐसी वस्तु है जिस का अवतार हुआ

करता है। आज कल लौकिक भाषा में सत्य बोलनेवाले मनुष्य को भी धर्म का अवतार कहा जाता है। जो आदमी बहुत क्रोधी हो उसे दुर्वासा या यम का अवतार कहते हैं। इस का तात्पर्य यही है कि जिस में धर्म का अंश अधिक विद्यमान् हो उसे धर्मावतार कह देते हैं। इसी प्रकार जिस पुरुष में ईश्वरीय गुण अधिक मात्रा में हों, उन्हें ईश्वर का अवतार कहा जाता है। इसका यह तात्पय नहीं कि ईश्वर ने अवतार ले लिया है परन्तु ईश्वर के शुभ गुणों को अपने अन्दर धारण करनेवाले को ईश्वरावतार कहा जा सकता है। भगवान् कृष्ण ने गीता में लिखा है:—

यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं ममतेजोंऽशसंभवम्॥

संसार में जितने प्राणी ऐश्वर्यवान् हों, श्रीमान् और उन्नत हों उन सब को भगवान् का अंश समझना चाहिये। इस से यह स्पष्ट हो गया है कि इस प्रकार से लाखों अवतार संसार में हो सकते हैं। पर वे ईश्वर नहीं माने जा सकते। राम कृष्णादि मर्यादापुरुषोत्तम और लोकोत्तर गुणों से युक्त होने के कारण महापुरुष माने जा सकते हैं, परन्तु ईश्वर नहीं। ईश्वर सर्वव्यापक होने से अवतार नहीं लेता, क्योंकि अवतार एकदेशीय पदार्थ में घटता है; सर्वव्यापक में नहीं। जिस समय धर्म की हानि और अधर्म की प्रबलता होती है उस समय परमात्मा के अटल नियमों के अनुसार

कोई महापुरुष पैदा होके अपने लोकोत्तर गुणों से धर्म की मर्यादा स्थापित करता है। उन्हें ही लोग भक्ति, प्रेम तथा अज्ञानता के वश में हो कर ईश्वर मानने लग जाते हैं। ईश्वर का अर्थ समर्थ है। जिसे साधारण जनता ने अधिक शक्तिशाली पाया उसे ही ईश्वर मान लिया और उन को ईश्वर का पूरा रूप देने के लिये उनके साथ अलौकिक घटनायें जोड़ कर उन्हें पूरा ईश्वर बना देते थे ताकि साधारण जनता का विश्वास उन के ईश्वरत्व पर से न हटे।

क्या परमात्मा उभय लिङ्ग नहीं हो सकता ?

कई लोगों का विचार है कि ईश्वर साकार और निराकार दोनों है। इस बात का उत्तर हम सनातनियों के परम मान्य गुरु स्वामी शंकराचार्य के शब्दों में देते हैं:—

न स्थानतोपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि। वेदान्तसूत्र।

सूत्रार्थ—उपाधि योग से भी परमात्मा का उभय लिंग (साकार-निराकार) नहीं हो सकता। क्योंकि श्रुति में सर्वत्र ही ब्रह्म को निर्विशेष ही प्रतिपादन किया गया है। इस पर भाष्य करते हुए शंकर स्वामी लिखते हैं कि "सुषुप्त्यादि में जीव उपाधि के नष्ट हो जाने पर जिस ब्रह्म से मिल जाता है उसके स्वरूप का वर्णन यहाँ पर श्रुतिआधार से किया जाता है। ब्रह्म को प्रतिपादन करने वाली दोनों प्रकार की श्रुतियाँ पाई जाती हैं यथा—सर्वकर्मा, सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः (छां० ३-१४-२) इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्म का वर्णन

सविशेष है। अस्थूलमनण्वमह्रस्वमदीर्घम्। (बृहद्० ३-८) इन श्रुतियों में ब्रह्म का वर्णन निर्विशेष है। इन दोनों प्रकार की श्रुतियों में ब्रह्म को दोनों प्रकार का सविशेष और निर्विशेष ग्रहण करना चाहिये अथवा एक प्रकार का। और यदि एक ही प्रकार का माना जाय तो क्या वह सविशेष गिना जाये या निर्विशेष, इसकी मीमांसा की जाती है। दोनों प्रकार की श्रुतियों की प्राप्ति होने से वह दोनों प्रकार का है। ऐसा प्राप्त होने पर हम कह सकते हैं कि ब्रह्म के दो रूप स्वाभाविक नहीं हो सकते। एक ही वस्तु स्वभाव से रूपादि विशेष से युक्त भी हो, और रूपादि हीन भी हो। इस बात में पारस्परिक विरोध होने पर इसे कोई मान नहीं सकता। यदि कहो कि पृथ्वी आदि क्या उपाधि के योग से साकार निराकार हो सकते हैं तो यह भी नहीं होसकता। क्योंकि अस्वच्छ का अभिनिवेश केवल भ्रम मात्र है। (अर्थात् उस में जो अस्वच्छता दीख पड़ती है वह भ्रम है) स्फटिक उज्ज्वल होता है उस को यदि लाल रंग का संयोग हो जाये तो उस का स्वाभाविक रूप तो स्वच्छ ही रहेगा। जो रंग से उस में ललाई दीखती है वह तो भ्रम-मात्र है, वास्तविक नहीं। इसका कारण यह है कि उपाधि की उपस्थिति अविद्या से हुआ करती है।

इसलिये यदि सविशेष और निर्विशेष वाक्यों में किसी एक का, ब्रह्मस्वरूप निर्धारण के लिये ग्रहण किया जाये तो

समस्त विशेष रहित निर्विकल्प को ही ब्रह्म स्वीकार करना पड़ेगा। इसके विपरीत नहीं। क्योंकि ब्रह्मस्वरूप को प्रतिपादन करनेवाली "अशब्दमस्पर्श मरूपमव्ययम्" इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्म समस्त विशेषों से रहित ही उपदिष्ट हुआ है। अर्थात् श्रुतियों में ब्रह्म का स्वरूप निराकार ही प्रतिपादन किया है। इस प्रश्न का उत्तर कि ब्रह्म का रूप क्या है? यह है—

आह च तन्मात्रम् ॥ ३-२-१६ ॥

इस ब्रह्म का रूप केवल चैतन्य मात्र है। चैतन्य से भिन्न ब्रह्म का अन्य कोई रूप नहीं हैं। अर्थात् संसार में जितनी चीज़ें दिखाई देती हैं वे सब त्रिगुणात्मक हैं। तीनों गुण प्रकृति के हैं, परमात्मा के नहीं। वह तो निर्गुण है। वह कभी भी आँख से दिखाई नहीं दे सकता। अर्थात् परमात्मा साकार नहीं। वह निर्गुण है अतः उसका भी रूप नहीं।

शिवपुराण में लिखा है कि—

नचाध्यभिनिवेशोऽस्य कुशलाकुशलान्यपि।
कर्माणि तद्विपाकश्च सुखदुःखेचतत्फले ॥४॥
आशयैर्नापिसम्बन्धः संस्कारैः कर्मणामपि।
भोगैश्च भोगसंस्कारैः कालत्रितयगोचरैः ॥५॥

वायुसंहिता ७ ख० २ अ० ६।

न कोई अभिनिवेश, मृत्युभय, न कुशल और अकुशल कर्म और ना हीं उनका विपाक सुख-दुःख, और उनके फल जाति आयु और भोग रूप। विपाक के समान वासना से

इसका कोई सम्बन्ध नहीं और ना हीं कर्मों के संस्कारों के साथ कोई संपर्क, और न ही भोग, और न तीन कालों में होने वाले भोगों के संस्कार उसमें होते हैं। अर्थात् ईश्वर शुभाशुभ कर्म तथा उसके सुख दुःखादि रूप फल से रहित है। योग दर्शन में कहा है—'क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषईश्वरः''। इस सिद्धान्तके रहते हुए राम कृष्णादि को अवतार नहीं माना जा सकता, क्योंकि उनमें ये लक्षण न थे।

प्रश्न—साकारवादी प्रायः ''द्वे वाव ब्रह्मणोरूपेमूर्तं चैवा मूर्तं च'' यह वाक्य पेश करके ब्रह्म के दो रूप होने का प्रमाण देते हैं। इसके सम्बन्ध में ''प्रकृतैतावत्त्वं हिप्रतिषेधति ततोब्रवीतिच भूयः'' ३-२-६ का भाष्य करते हुये शंकर स्वामी लिखते हैं:—''कथंहि शास्त्रं स्वयमेय ब्रह्मणो रूपद्वयंदर्शयित्वा स्वयमेव पुनः प्रतिषेधति—प्रक्षालनाद्धिपंकस्य दूरादस्पर्शनं वरमिति। यतो नेदं शास्त्रं प्रतिपाद्यत्वेन ब्रह्मणोरूपद्वयंदर्शयति लोकप्रसिद्धं तुइदं रूपद्वयं ब्रह्मणि कल्पितं परामृशति प्रतिषेध्यत्वाय शुद्धब्रह्मस्वरूप प्रतिपादनाय चेति निरवद्यमिति संक्षेपतः। शास्त्र ब्रह्म के दो रूप स्वयं बतलाकर फिर क्यों प्रतिषेध करता है। यह शास्त्र ब्रह्म के दो रूपों का प्रतिपादन नहीं करता। लोकप्रसिद्ध ये दो रूप ब्रह्म में कल्पित हैं ऐसा उपदेश प्रतिषेध के लिये ही किया है और ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप को प्रतिपादन करने के लिये। भाव यह है कि पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश

इन भौतिक पदार्थों में वायु और आकाश अमूर्त्त और शेष मूर्त हैं। चूँकि दोनों में परमात्मा व्यापक है इसलिये इसे उपचार से दो रूपवाला कहा है, वास्तव में उसका कोई रूप नहीं।"

प्रश्न—क्या वेद में भी अवतार निषेधक कोई स्पष्ट मन्त्र है?

उत्तर—है। यथा—"सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं-शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूःस्वयम्भूर्याथातथ्य-तोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः। यजु० ४०-८।

हे मनुष्यो! जो ब्रह्म (शुक्रम्) शीघ्रकारी, सर्वशक्तिमान् (अकायं) स्थूल सूक्ष्म कारण शरीर रहित (अव्रणं) छिद्र रहित (अस्नाविरम्) नाड़ी आदि के सम्बन्ध रूप बन्धन से रहित (शुद्धम्)अविद्यादि दोषों से रहित (अपापविद्धम्) जो पापमुक्त, पापकारी और पाप में प्रीति करनेवाला नहीं होता (परि-अगात्) सब ओर से व्याप्त है। (कविः) सर्वज्ञ (मनीषी) सब जीवों के मनों की वृत्तियों को जाननेवाला और (परिभूः) दुष्ट पापियों का तिरस्कार करनेवाला, अनादि स्वरूप जिसके संयोग से उत्पत्ति, विभाग से नाश, माता-पिता, गर्भवास, जन्म-वृद्धि और मरण नहीं होते, वह परमात्मा (शाश्वतीभ्यः) सनातन अनादिस्वरूप अपने स्वरूप से उत्पन्न और विनाश रहित (समाभ्यः) प्रजाओं के लिये (याथातथ्यतः) यथार्थ भाव से, अर्थात् वेद द्वारा सब पदार्थों को (व्यदधात्) विशेष करके बनाता है, वही परमेश्वर तुम लोगों को उपासना करने योग्य है। इसका भाष्य शंकर स्वामी ने इस प्रकार किया है:—

सपर्यगात-सयथोक्त आत्मा पर्यगात्-परिसमन्तात् अगात् गातवान् आकाशवद् व्यापीत्यर्थः। अर्थात् वह परमात्मा आकाश के समान सर्वत्र व्यापक है। शुक्रं शुद्धं ज्योतिष्मद्दीप्तिमानित्यर्थः। प्रकाशमान है। अकायं अशरीरं लिंगशरीर वर्जित इत्यर्थः। जो लिंग शरीर रहित है। अव्रणं अक्षतं क्षतरहितम् जिसमें कोई व्रण न हो। अस्नाविरम्। अव्रणमस्नाविरमित्यादिभ्यांस्थूल शरीर प्रतिषेधः। अव्रण और अस्नाविर इन दो विशेषणों से परमात्मा के स्थूल शरीर का निषेध है। शुद्धम्। निर्मलमविद्यामलरहित मिति कारण शरीर प्रतिषेधः। वह शुद्ध अर्थात् अविद्यादिमल रहित है इस से कारण शरीर का प्रतिषेध है। इत्यादि। महीधरने 'अकायं' का अर्थ 'न कायं शरीरं यस्यतत्' किया है। अकायत्वादेव शुद्धमनुपहतसत्व रजस्तमोभिः। अर्थात् सत्व रज तम इन प्रकृति गुणों से दूषित नहीं है। इस मन्त्र के इन तीनों भाष्यों में ईश्वर के निराकारत्व का ही प्रतिपादन किया गया है। साथ ही स्वामी जी तथा शंकर ने परमात्मा के स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण इन तीनों शरीरों का प्रतिषेध कर दिया है। इसी भाव को उपनिषद् का निम्न मन्त्र और भी स्पष्ट करता है।

(२) नतस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्यशक्तिर्विविधैव श्रूयते। स्वाभाविकी ज्ञानबल क्रिया च। श्वेताश्वतरोपनिषद्।

शंकराचार्य इस मंत्र का अर्थ लिखते हैं कि:—

"नतस्य कार्यशरीरं करणं चक्षुरादि विद्यते" अर्थात् उस परमात्मा का शरीर तथा इन्द्रियां नहीं हैं।

(६) जन्म निरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनोहि प्रवदन्ति नित्यम्। श्वे० ४-२१।

ब्रह्मवादी लोग परमात्मा का जन्म नहीं मानते।

प्रश्न—अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपंरूपं प्रतिरूपो वभूव।
एकस्तथासर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रति रूपं बहिश्च॥

जैसे एक ही अग्नि भुवन में प्रविष्ट होकर जैसी लकड़ी पाता है, वैसा ही आकार धारण कर लेता है, वैसे ही समस्त भूतों का आत्मा ईश्वर, रूप के अनुकूल शरीर धारण करता है और बाहर भी रहता है।

उत्तर—'इस मन्त्र में शरीर धारण करता है' यहां किसी पद का अर्थ नहीं है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि "जैसे एक ही अग्नि भुवन में प्रविष्ट होकर तदाकार होरहा है। उसी प्रकार एक ही परमात्मा प्रत्येक रूपवान पदार्थ में तदाकार होरहा है। तदाकार का तात्पर्य है कि जैसे किसी गोल लोह पिण्ड को अग्नि में डाल दिया जाय तो उस गोल लोह पिण्ड में सर्वत्र बाहिर भीतर अग्नि ही नज़र आयेगी। अर्थात् लोहे का जैसा आकार होता है उसी प्रकार सम्पूर्ण पदार्थों में परमात्मा लोह पिण्ड में अग्नि के समान, तदाकार होरहा है। जिस प्रकार उस लोहपिण्ड को अग्नि का निजी शरीर नहीं कह सकते, उसी प्रकार प्रत्येक रूपवान् पदार्थ को परमात्मा का

रूप नहीं कह सकते। साथ में यह भी समझना चाहिये कि परमात्मा त्रिगुणातीत तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। वह अग्नि में भी व्यापक है। अग्नि प्राकृतिक है।

प्रश्न—प्रजापतिश्चरतिगर्भे अन्तरजायमानो बहुधाविजायते।
तस्ययोनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् हि तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥

हे मनुष्यो (अजायमानः) अपने स्वरूप से ही, उत्पन्न न होनेवाला (प्रजापतिः) प्रजा का रक्षक जगदीश्वर (गर्भे) गर्भस्थ जीवात्मा और (अन्तः) सब के हृदय में (चरति) विचरता है। और (बहुधा) बहुत प्रकार से (विजायते) विशेष कर प्रकट होता है (तस्ययोनिं) उस प्रजापति की योनि को (धीराः) ध्यानशील विद्वान् (पश्यन्ति) देखते हैं। इस मन्त्र में (गर्भे) का अर्थ गर्भस्थ जीव लक्षणा से किया गया है। जैसे (नभोवरेण्यं) यजु० ६-३१ में नभस्थैः वरेण्यम्—आकाश में रहने वाले देवों से प्रार्थनीय—जैसे इस मन्त्र में महीधर ने—नभ का अर्थ 'नभस्थैः देवैः' किया है उसी प्रकार 'गर्भ' का अर्थ गर्भस्थ परमात्मा है। इस मन्त्र में 'योनि' का अर्थ स्वरूप है। स्वरूप का तात्पर्य आकार नहीं है परन्तु 'रूप्यते अनेनइति रूपम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिस से जाना जासके, वह रूप कहलाता है। इस मन्त्र में 'विजायते' पद से सनातनी पण्डित अवतार का अर्थ लेते हैं। विजायते का अर्थ प्रकट होना है। इस का अर्थ अवतार लेना किसी कोष या भाष्यकार ने नहीं किया। स्वयं महीधर ने भी

इस का अर्थ अवतार या जन्म लेना नहीं किया। इस का स्पष्ट भाव यह है कि "वह अन्तःकरण में प्रकट होता है। उसी अन्तःकरण में प्रकट परमात्मा के स्वरूप को ब्रह्मज्ञानी देखते हैं। यदि स्वरूप का अर्थ आकार कर लिया जाये तो इस मन्त्र का यह भाग 'उस ईश्वर के स्वरूप को धीर देखते हैं' निरर्थक हो जायेगा। क्योंकि जब वह शरीरी हो गया तो उसे सब ही देखेंगे। इसी प्रकार 'विजायते' का अर्थ, अवतार लेता है, यह मानने पर निम्न दोष आयेंगे।

(१) परमात्मा सच्चिदानन्द है। शरीरी होने से सुख दुःख का भागी होगा।

(२) 'सपर्यगात्' इत्यादि श्रुतियों से विरोध होगा।

(३) 'क्लेश कर्म' इत्यादि योग सिद्धान्त से विरोध होगा।

प्रश्न—जीवात्मा अजन्मा हो कर जन्म धारण करता है तो क्या ईश्वर इतनी भी सामर्थ्य नहीं रखता कि वह जन्म धारण कर सके। जीव अजन्मा हो कर शरीर धारण कर ले, और ईश्वर न कर सके ?

उत्तर—'भोगायतनंशरीरम्' यह शरीर सुख दुःख भोग के लिये मिलता है। जीव कर्म करता है। कर्म का फल भोगने के लिये उसे शरीर में आना ही चाहिये। ईश्वर जीव से भिन्न है उसे सुख दुःख भोगना नहीं पड़ता फिर उस का शरीर कैसे हो सकता है। ईश्वर क्लेश, कर्म के फल तथा वासनाओं से रहित है, अतः उस का शरीर

धारण करना बन ही नहीं सकता। जीवात्मा के जन्म में उस का कर्म कारण है। परन्तु परमात्मा के जन्म में क्या कारण हो सकता है। 'कारणाभावात्कार्याभावः' कारण के अभाव में कार्य का अभाव स्वयं सिद्ध है।

प्रश्न—परमात्मा के जन्म लेने में भक्ति कारण है। उदाहरणार्थ अकबर ने बीरबल से पूछा कि ईश्वर अवतार क्यों लेता है? वीरबल ने छः मास का अवकाश मांगा। वीरबल ने एक कारीगर के द्वारा बादशाह के लड़के की शकल का एक मोम का लड़का बनवाया। एक दिन बादशाह हवा खाने के लिये नाव पर सवार हुए और बीरबल की राह देखने लगे। इतने में बीरबल उस लड़के को ले कर आ पहुँचा। नाव पर सवार हुआ। जब नाव मझधार में पहुंची तो वीरबल ने बहाने से उस लड़के को धार में छोड़ दिया और चिल्ला उठा कि लड़का पानी में गिर गया। बस क्या था बादशाह स्वयं जल में कूद पड़ा और जब लड़के को पकड़ कर ले आया तो उसे मालूम हुआ कि यह लड़का मोम का है। वीरबल पर बहुत नाराज़ हुआ और बोला कि तुमने इतनी धृष्टता क्यों की। यह सुन कर वीरबल बोला—हजूर को भी इतनी जल्दी नहीं करनी चाहिये थी। आप के पास इतने नौकर चाकर होते हुए भी, आप जल में क्यों कूद पड़े। बादशाह ने कहा कि मैं अपने पुत्र के प्रेम में पागल हो गया था। इस लिये हुक्म देने की अपेक्षा स्वयं ही जल में कूद-

पड़ा। बीरबल ने कहा बादशाह हजूर यह उस दिन के अवतार के प्रश्न का उत्तर है। जब भक्त पर कष्ट पड़ता है तो वह प्रभु और किसी को आज्ञा न दे कर प्रेम में स्वयं दौड़ पड़ता है।

उत्तर—इस कहानी से अज्ञानियों को संतोष हो सकता है। राजा अज्ञानी था उसे पता न था कि यह मोम का लड़का था। यदि उसे मालूम होता तो वह कभी न कूदता। राजा के जल में कूदने का कारण उस का अज्ञान है। परमात्मा अज्ञानी नहीं। अतः यह उदाहरण विषम है। साथ ही जो परमात्मा बिना शरीर के ही इस महान् ब्रह्माण्ड का संचालन, उत्पत्ति, स्थिति या प्रलय करता है उस को दुष्टों को मारने तथा भक्तों की रक्षा के लिये शरीर धारण की कोई आवश्यकता ही नहीं। वह जिस प्रकार अपनी व्यापकता से सृष्टि उत्पन्न करता है उसी व्यापकता से उपर्युक्त कार्य भी कर सकता है। साथ ही यह बात भी उल्लेखनीय है कि २४ अवतारों में से केवल राम कृष्ण को ही भक्तों ने बुलाया है। परशुराम, वाराह, मत्स्य, कच्छप इत्यादि के अवतार के लिये किस भक्त ने पुकारा? और क्या अब भक्त नहीं हैं? अब उन की पुकार पर अवतार क्यों नहीं होता? उसे तो प्रति दिन अवतार लेना चाहिये क्योंकि किसी न किसी भक्त पर संकट पड़ा ही रहता है। इस समय तो अवतार की अत्यन्त आवश्यकता है क्योंकि करोड़ों गौएँ मारी जाती हैं। ब्राह्मणों पर बहुत

विपत्ति है। आज कंस तथा रावण जैसे सैंकड़ों राक्षस संसार को कष्ट दे रहे हैं।

प्रश्न—यदि निराकार से साकार नहीं हो सकता, तो वह सर्व शक्तिमान् कैसे ?

उत्तर—क्या परमात्मा अपने राज्य से किसी को निकाल सकता है ? या वह अपना बाप बना सकता है। इस का उत्तर नहीं के सिवाय और क्या हो सकता है। तब क्या वह सर्वशक्तिमान् नहीं माना जायेगा।

प्रश्न—जब वह अवतार लेता नहीं, तो संसार में अवतार शब्द की सत्ता क्यों है ?

उत्तर—अवतार शब्द का अर्थ उतरना है। अव उपसर्ग-पूर्वक तॄ धातु से बना है। कल्पद्रुम यह काल्पनिक वृक्ष है, इस की सत्ता ही नहीं, पर नाम है।

प्रश्न—यथा जड़ तत्त्व अग्नि एक रस होने पर भी साकार हो जाती है। उसी प्रकार परमात्मा एक रस होने पर भी साकार हो जाता है।

उत्तर—अग्नि को एक रस कहना भूल है। एक रस का अर्थ सर्वत्र एक समान, विकार हीन है। सिवाय परमात्मा के और कोई पदार्थ एक रस नहीं। यदि अग्नि को एक रस मानें तो उसे परमात्मा में भी व्यापक मानना पड़ेगा।

अग्नि इत्यादि सावयव पदार्थ होने से कार्य हैं। कार्य कभी भी एक रस नहीं रहता। परमात्मा निरवयव

पदार्थ एक रस है उस में कभी विकार नहीं होता।

प्रश्न—जैसे वायु को एक यन्त्र में भर लेने से सर्वत्र की वायु उस में नहीं आ जाती। यदि ऐसा हो जाय तो सब ही प्राणी मर जायें। जब वायु में इतनी शक्ति है तो क्या परमात्मा में वायु जितनी भी शक्ति नहीं है?

उत्तर—यह दृष्टान्त विषम है। क्योंकि वायु और अग्नि सर्वव्यापक नहीं। अग्नि जल परमाणुओं तथा आत्मा में व्यापक नहीं। उसी प्रकार जल परमाणु भी आत्मा में व्यापक नहीं। सावयव पदार्थों का आना जाना बन सकता है। वायु फुटबाल के थैले में अथवा साइकल के ट्यूब में न था, तब यन्त्र द्वारा उस में हवा भरी गई। क्या परमात्मा भी ऐसा ही है। यदि नहीं, तो यह दृष्टान्त विषम है। परमात्मा के सर्वव्यापक कूटस्थ होने से उस का आना जाना बन ही नहीं सकता।

प्रश्न—वेद के निम्न मन्त्र में वाराह अवतार का वर्णन है

वाराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय विजिहीते मृगाय।

अथर्व काण्ड १० अनुवाक १।

अर्थात् वाराह रूपधारी प्रजापति ने इस पृथिवी का उद्धार किया

उत्तर—इस मन्त्र का यह अर्थ है कि वाराह का अर्थ मेघ है। "वाराहस्य इदं वाराहम्" अर्थात् मल। सूकर—सूर्य। सुष्ठुकराः रश्मयः यस्य सः सुकरः छान्दसं दीर्घत्वम्। विजिहीते—जाता है। ओहाङ् गतौ इतिधातोः लटिप्रथमपुरुषैकव-

चेन रूपम्। संविदाना—सम्यक् गच्छन्ती। मृगाय-मृजु-शुद्धौ मार्ष्टि शोधयतीतिमृगः। शुद्ध करनेवाला (यजु० ५-२० महीधर) अर्थात् जल के साथ भलीभाँति मिली हुई पृथिवी सब पदार्थों के शोधक सूर्य के चारों ओर घूमती है।

प्रश्न—वेद के निम्न मन्त्र में वामनावतार का वर्णन है।

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
समूढ़मस्य पाँसुरे॥ यजु० ५-१५०।

ब्रह्म ने इस जगत् को पैर से नापा। पाद को तीन प्रकार से रखा।

उत्तर—इस मन्त्र का यथार्थ अर्थ इससे भिन्न है। स्वयं दुर्गाचार्य ने इस मन्त्र का अर्थ सूर्य परक किया है। क्योंकि विष्णु का अर्थ सूर्य तथा परमात्मा दोनों ही हैं। विशतेर्वा यदाविष्टः प्रविष्टः सर्वतो रश्मिभिरिति। व्यश्नोतेर्वा विपूर्वस्य वाश्नोतेः, यदा रश्मिभिरतिशयेनायं व्याप्तो भवति। व्याप्नोति वा रश्मिभिरयं स वै तदा विष्णुरादित्यो भवति। निरुक्तमें "विष्णु" की व्याख्या में दुर्गाचार्य का उपयुक्त भाष्य है। अर्थात् जब सूर्य रश्मियों के द्वारा व्याप्त होता है तब इसका नाम भी विष्णु कहलाता है। सर्वत्र व्यापक होने से परमात्मा का नाम भी विष्णु है। इस प्रकार से यह मन्त्र परमात्मा तथा सूर्य परक लगता है। शतपथ में 'वामनो हि विष्णुरास' १-२-२-५ इस पद में प्रातः कालीन उदित होते हुए सूर्य को विष्णु कहा गया है। क्योंकि उस समय वह तेजहीन छोटा

दिखलाई देता है। इस प्रकार तो प्रति दिन ही वामनावतार होता है।

प्रश्न—वेद के निम्न मन्त्र में कृष्णावतार का वर्णन है—

कृष्णन्त एम रुशतः पुरोगाश्चरिष्णवार्चिव पुषामि देवकम्।

यदप्रवीता दधते हगर्भं सद्यश्चिज्जातो भवसीदु दूतः॥

इस मन्त्र में कृष्णादि शब्द को देखकर अवतार की सिद्धि हो गई। स्वयं सायणाचार्य ने इस मन्त्र का अर्थ कृष्णावतार परक नहीं लगाया। सायण का अर्थ—हे अग्ने, प्रकाशमान, तेरे गमन का मार्ग कृष्णवर्ण है। तेरा प्रकाश आगे रहता है। व्यापनशील तेरा तेज ही सम्पूर्ण रूपवान् तेजस्वियों में मुख्य है। तेरे समीप न गये हुए यजमान जब तेरी उत्पत्ति के कारण अरणि को धारण करते हैं त्यों ही तू उत्पन्न होकर यजमान का दूत बन जाता है। इसमें कृष्णावतार की गन्ध भी नहीं है।

प्रश्न—निम्न मन्त्र से रामावतार सिद्ध होता है।

भद्रो भद्रया सचमान आगात् स्वसारं जारो अभ्येति पश्चात्।

सुप्रकेतैर्द्युभिरग्निर्वितिष्ठन्नुशद्भिर्वर्णैरभिराममस्थात्॥

(भद्रः) रामचन्द्र जी (भद्रया) सीता सहित (सचमानः) सम्मिलित होकर (आगाद्) दण्डकारण्य को गये तब (स्वसारं) सीता का हाथ पकड़ने को (जारः) रावण (पश्चात्) राम के परोक्ष में (अभ्येति) आया तब रावण के मरने के पीछे (सुप्रकेतैः) अच्छे चिन्हों से (उशद्भिः) दीप्तिमान (वर्णैः) वर्णों से

उपलक्षित (द्युभिः) द्युलोक की साधन भूत राम की दारा सहित (अग्निः) अग्नि देवता (रामं) राम के सन्मुख (अभ्यस्थात्) उपस्थित होता है। जानकी शुद्ध है यह कह कर जानकी को समर्पण करता है। इससे रामावतार सिद्ध है।

उत्तर—इस मन्त्र में रामावतार की गन्ध भी नहीं! खींचातानी करने का यह बढ़िया नमूना है। इस अर्थ में न किसी कोष का प्रमाण है और न किसी आचार्य का। इस मन्त्र का सायणाचार्य ने भी भिन्न अर्थ किया है। (भद्रः) कल्याणकारी (भद्रया) कल्याणकारिणी उषा से (सचमानः) सेव्यमान (आगात्) आता है। तत्पश्चात् (जारः) सूर्य (उषा को जीर्ण करने वाला) (स्वसारं) उषा को (अभ्येति) सब ओर से व्याप्त कर लेता है। (सुप्रकेतैः) अच्छे प्रकार से ज्ञान देने वाले-(द्युभिः) प्रकाश से (वितिष्ठन्) व्याप्त होकर (अग्निः) वह सूर्य (उशद्भिः) श्वेत (वर्णैः) तेज से (रामं) रात्रि के अन्धकार को (अभ्यस्थात्) नाश कर देता है।

यह कुछ मन्त्र हमने उदाहरणार्थ प्रस्तुत किये हैं। जिससे कि पाठकों को भली प्रकार ज्ञात हो जावे कि किस प्रकार अपने मतलब को सिद्ध करने के लिये अर्थ का अनर्थ किया जाता है और वेद के मनमाने अर्थ किये जाते हैं। इस अध्याय में लिखित प्रमाणों तथा युक्तियों के आधार पर यह स्पष्ट हो गया कि अवतार वाद का विचार सर्वथा काल्पनिक है इसके लिये वेदादि शास्त्रों का कोई भी प्रमाण नहीं है।